ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश'

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भाग्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ – रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, जिसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख ।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ईसवी
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश'

लेखक

मुहम्मद ज़ाकिर

अनुवादक

जानकी प्रसाद शर्मा

साहित्य अकादेमी

भूमिका

अब तक किये गये शोध के अनुसार उर्दू का आरम्भ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी ईसवी में इस तरह हुआ कि यहाँ की आम बोली में फ़ारसी-अरबी की शब्द-सम्पदा का समावेश होता गया। बाज़ारों और दरवेशों के आश्रमों में इसका पालन-पोषण हुआ क्योंकि इनमें विभिन्न बोलियाँ बोलने वाले लोगों को एक-दूसरे के संपर्क में रहने का ज़्यादा अवसर मिलता था। राजदरबार में इस भाषा को बाद में सम्मान प्राप्त हुआ।

इस भाषा के आरम्भिक लक्षणों से ज्ञात होता है कि चौदहवीं शताब्दी की शुरूआत के साथ ही एक बोली के स्तर पर इसका आकार निश्चित हो चुका था जिसके कुछ प्रामाणिक और अप्रामाणिक उदाहरण अमीर खुसरो (निधन १३२५ ई.) के काव्य में मिलते हैं। साहित्यिक भाषा के रूप में इसे दिल्ली से पहले दकन में अपनाया गया। सतरहवीं शताब्दी के आरम्भ तक शायरी और गद्य में जो कृतियाँ वहाँ अस्तित्व में आई, वे उर्दू की प्राचीन निधि का मूल्यवान अंग हैं। इस पूरे अरसे में बल्कि बहुत बाद तक उसे भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग नामों से याद किया गया, जैसे, हिंदी, हिंदवी, दक्नी, गुजराती, हिंदुस्तानी जुबान आदि। विशेष रूप से इसमें जो ग़ज़ल के रूप में साहित्य रचा गया, उसका नाम 'रेख़्ता' पड़ गया।

उत्तर भारत में साहित्य रचना के लिए इसे ठीक तरह से अठारहवीं शताब्दी में अपनाया गया। यह वह युग था जब मुग़ल सल्तनत के पतन के साथ-साथ भारत में फ़ारसी का अपकर्ष भी हो रहा था। सतरहवीं शताब्दी के अंत में दकन के मुग़ल सल्तनत का हिस्सा बन जाने के कारण वहाँ के शायर दिल्ली आने लगे थे जिनमें वली दकनी का नाम सबसे ज़्यादा मशहूर है। उत्तर भारत में उर्दू में शे'र कहने की ज़मीन बन चुकी थी, कुछ नमूने भी सामने आये थे। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि यह यहीं की बोली थी। लेकिन फ़ारसी की तुलना में इसे सम्मान और गरिमा प्राप्त नहीं हुई थी। इसका अस्तित्व और महत्त्व अलबत्ता बढ़ता जाता था और कई फ़ारसी गो शायर भी मन-बहलाव के रूप में उर्दू में शे'र कहने लगे थे।

वली का दीवान अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में दिल्ली पहुँचा तो इससे शायरों

को रेख़्ता में शायरी कहने की बड़ी प्रेरणा मिली। रेख़्ता की शायरी समय की एक माँग बन गई और इसने हर वर्ग का ध्यान आकर्षित कर लिया और इसमें उच्चकोटि का साहित्य-सृजन होने लगा। इस प्रकार रेख़्ता अर्थात् उर्दू शायरी उस साझा संस्कृति का प्रतीक बन गई जिसने भारतीय और इस्लामी संस्कृतियों के पारस्परिक मेल-जोल से उत्तर भारत में जन्म लिया था। खुद इस इस्लामी संस्कृति में अरबी, ईरानी और तुर्की के तत्त्व सम्मिलित थे। इस सम्मिलित संस्कृति के पहले-पहले चिह्न विभिन्न कलाओं के रूप में दिल्ली और इसके बाहर दिखाई देने लगे थे।

राजनीतिक केंद्र के साथ-साथ दिल्ली जब धर्म एवं विद्या का केंद्र भी बन गया तो तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में ही इसे 'हज़रत-ए-दिल्ली' के नाम से पुकारा जाने लगा। अब उसने उर्दू शायरी के केंद्र की हैसियत भी प्राप्त कर ली। फ़ारसी के मुशायरों के साथ-साथ रेख़्ता अर्थात् उर्दू शायरी के आयोजन भी होने लगे। जिनमें सिर्फ़ शायर ही नहीं साहित्य में रुचि रखने वाले सभी लोग शामिल होने लगे थे। उर्दू शायरी का स्वर्णयुग अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही शुरू हुआ और इसके प्रसिद्धतम शायर 'मीर', 'सौदा' और 'दर्द' हुए।

अठारहवीं शताब्दी में ही आर्थिक दुर्दशा, शासन-तंत्र की शिथिलता, अमीरों का पारस्परिक वैमनस्य, नादिर और अब्दाली जैसे विदेशी आक्रमणकारियों की लूटमार, सिखों मराठों और जाटों के आतंक और फिर अंग्रेज़ी-राज की बढ़ती हुई शक्ति और अत्याचारों के कारण मुगल सल्तनत के आर्थिक एवं राजनीतिक पतन में तेज़ी आ गई और यह बराय नाम रह गई। विपन्नता और दुर्दशा के इस वातावरण में राजधानी दिल्ली में साहित्य एवं कलाओं के पालन-पोषण में कमी आ गई तो कलाकार अपना ठिकाना और जगह तलाश करने लगे। शायरी भी उन कलाओं में से एक थी जो अमीरों के वैभव और प्रोत्साहन से जुड़ी हुई थी। अतएव अधिकांश रेख़्ता गो अर्थात् उर्दू शायर भी दिल्ली छोड़-छोड़ कर मुर्शिदाबाद, मैसूर, हैदराबाद और देश के दूसरे भागों में जा बसे और उर्दू के नये केंद्र बनते गये।

इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र लखनऊ (अवध) साबित हुआ क्योंकि यह दिल्ली के पास भी था और फिर वहाँ के नवाबों में साहित्य के प्रति रुचि थी और वहाँ सुख-शांति-पूर्ण वातावरण था। अवध के नवाबों ने शायरों को आश्रय प्रदान किया। इससे पूर्व अवध में रेख़्ता की शायरी की परम्परा नहीं थी। वहाँ शायरी की बुनियाद दिल्ली से प्रवास करके

जाने वाले शायरों के कारण पड़ी। लेकिन जल्दी ही वहाँ शायरी के विषयों और इससे भी ज़्यादा शायरी की भंगिमाओं में ऐसा रंग उभरने लगा जो वहाँ की एक विशिष्ट पहचान बन गई। लखनऊ के प्रतिष्ठित शायरों में ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' का विशेष महत्त्व है।

वास्तविकता यह है कि अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों का समय भारत में नई और पुरानी शक्तियों और मूल्यों के द्वंद्व का युग भी था। इस द्वंद्व में अंततोगत्वा पुरानी शक्तियों और किसी हद तक पुराने मूल्यों की पराजय हुई और नये मूल्यों की विजय हुई। इसी प्रकार भारतीय साहित्य के आधुनिक युग में प्रवेश करने का समय भी यही था। उन्नीसवी-शताब्दी के उत्तरार्ध्द में उर्दू शायरी का भी आधुनिक युग आरम्भ हुआ। इससे पहले अर्थात् प्राचीन उर्दू शायरी को 'मीर' की वेदना, 'सौदा' के हास्य-व्यंग्य, नज़ीर अकबराबादी की निश्छल विनोदप्रियता और मिर्ज़ा ग़ालिब के नये चिंतन और अभिव्यक्ति के नये प्रयोगों ने समृध्द किया। इनके साथ-साथ 'आतिश' का बाँकपन भी अपना महत्त्व रखता है।

'आतिश' की जीवनी, उनके कवि-व्यक्तित्व और उनकी शायरी के अलावा इस पुस्तक में लखनऊ के सांस्कृतिक वातावरण और उस शायरी व भाषा की परम्परा पर भी प्रकाश डाला गया है जो दिल्ली से लखनऊ पहुँची थी। आतिश की शायरी की झलकियाँ आवश्यकतानुसार यथास्थान प्रस्तुत की गई हैं। शायरी का चयन अलग से नहीं दिया गया।

सूची

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक वातावरण तथा शायरी और भाषा की परम्परा

(१)

अवध मुगल सल्तनत का ही एक सूबा था और वहाँ का सूबेदार नवाब वज़ीर कहलाता था। सूबेदार मुहम्मद अमीन सआदत खाँ बुरहानुलमुल्क (१७२० से १७३९ ई.) और अबुलमंसूर सफ़दरजंग (१७३९ से १७५३ ई.) के बाद नवाब शुजाउद्दौला (१७५३ से १७७५ ई.) के पराक्रम ने इस सूबे को राजनीतिक रूप से महत्त्वपूर्ण बना दिया था। हालाँकि वे मुगल बादशाह के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध बक्सर की लड़ाई (१७६४ ई.) हार चुके थे। लेकिन फिर भी उनकी सिपाहियाना धाक बनी हुई थी और उन्होनें अपने प्रयासों से अवध को एक मज़बूत रियासत बना लिया था। उनके बेटे और उत्तराधिकारी आसफ़ उद्दौला (१७७५ से १७९५ ई.) ने फ़ैज़ाबाद के बजाय लखनऊ को अपना मुख्यालय बनाया। उनमें पिता जैसी सैनिक दक्षता नहीं थी। इसी के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी का दवाब बढ़ता जाता था। आसफ़ुद्दौला में इससे जूझने का साहस नहीं था। उनका झुकाव धार्मिकता की ओर ज़्यादा होने लगा। सैनिक शक्ति के विस्तार से अधिक उनकी रुचि दरबारी शानो-शौकत बढ़ाने और लखनऊ को नई-नई इमारतों से सुसज्जित करने में थी। अतएव मुज्तहदुल अस्र[1] का ओहदा उनके समय में ही क़ायम हुआ और कई मदरसे और संस्थाएँ भी बनाई गई। लखनऊ का मशहूर इमाम-बाड़ा जो लाखों रुपये की लागत से तैयार हुआ, वह भी उन्हीं की यादगार है। धर्म और वास्तुकला में रुचि के अलावा उनकी दानशीलता की कहानियाँ अब तक मशहूर हैं। वे शे'रो शायरी के भी शौक़ीन थे। स्वयं भी शे'र कहते थे। उनके साहित्यानुराग के कारण शायर लखनऊ की तरफ़ और ज्यादा खिंचे चले आये। उन्हीं के युग में लखनऊ की उर्दू शायरी का पहला दौर समाप्त हुआ और दिल्ली के प्रवासी शायरों से ही दूसरे युग का आरम्भ हुआ ।

नवाब सआदत अली खाँ (१७९८ से १८१८ ई.) अंग्रेज़ों की मदद से आसफ़ुद्दौला

---

१. इस्लाम में आस्था न रखने वालों से जिहाद करने वाला, धर्माधिकारी ।

के उत्तराधिकारी तो हो गये लेकिन इसके बदले में उन्होंने अंग्रेज़ों को आधी सल्तनत दे दी। उन्होंने आर्थिक मामलों में जिस सूझ-बूझ और मितव्ययिता से काम लिया इसके कारण वे आसफ़ुद्दौला की भाँति लोकप्रिय नहीं हो सके। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने शायरों और कलाकारों को धन और पुरस्कार देकर सहायता की।

उनके उत्तराधिकारी ग़ाजी उद्दीन हैदर (१८१४ से १८२७ ई., को अंग्रेज़ों ने बादशाह का ख़िताब दिया था ताकि मुग़ल बादशाह का अपमान हो सके। अवध की नवाबी इस प्रकार स्वाधीन बादशाहत में पारिवर्तित हो चुकी थी। यह १८२० ईसवी में हुआ। ग़ाजी उद्दीन हैदर का अधिकांश समय दरिंदों और वहशी जानवरों की लड़ाई देखने में व्यतीत होता था। अलबता धार्मिक विषयों में उनकी रुचि के कारण एक विशेष धार्मिक प्रवृति अर्थात् शीया धर्म को लखनऊ में अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। उन्हीं के दौर में शाही मदरसे भी खोले गये और विज्ञान एवं दूसरी विद्याओं के प्रति रुचि में वृद्धि हुई। उर्दू गद्य का भी विकास हुआ। रजब अली बेग 'सुरूर' ने अपनी प्रसिद्ध गद्य-रचना 'फ़िसाना-ए-अजायब' लिखते वक्त दिल्ली वाले मीर अम्मन की 'बाग़-ओ-बहार' को आधार बनाकर दिल्ली की भाषा और मुहावरे पर टीका-टिप्पणी की। यह जैसे लखनऊ के भाषा-सम्बन्धी आत्मविश्वास बल्कि भाषागत स्वाधीनता की घोषणा थी। कविता में यही युग 'नासिख़' और 'आतिश' की शायरी के उत्कर्ष का था जिसे लखनऊ में उर्दू शायरी का तीसरा दौर कहा जा सकता है।

ग़ाज़ी उद्दीन हैदर के बाद अवध के शासकों की हैसियत अंग्रेज़ रेज़ीडैंस की कठपुतलियों से ज़्यादा न रही। ग़ाजी उद्दीन हैदर के उत्तराधिकारी नसीरुद्दीन हैदर (१८२७ से १८३७ ई.) बड़े विलासिताप्रिय थे। वे प्रायः ज़नाना लिबास भी पहना करते थे। उन्होंने भी ऐसे धार्मिक रीति-रिवाज़ों को प्रोत्साहित किया जिनसे बचकानापन झलकता था। उनके उत्तराधिकारी मुहम्मद अली शाह यद्यपि धार्मिक प्रवृति के व्यक्ति थे लेकिन वे वृद्धावस्था में गद्दी पर बैठे थे। सल्तनत के पतन को रोकने की क्षमता उनमें भी नहीं थी। बल्कि उनके युग (१८३७ से १८४२ ई.) में तो एक संधि के तहत लखनऊ में अंग्रेज़ी सेना की संख्या भी बढ़ी और देश की आंतरिक व्यवस्था में उसका हस्तक्षेप भी पहले की तुलना में ज़्यादा होने लगा। अमजद अली शाह (१८४२ से १८४७ ई.) धार्मिक व्यक्ति थे और धमवेत्ताओं के क़द्रदान भी। लेकिन उनके पुत्र और उत्तराधिकारी वाजिद अली शाह (१८४७ से १८५६ ई.) को हालांकि शुरू में न्याय-व्यवस्था और सेना सम्बन्धी सुधारों

का ध्यान था। लेकिन इसे उनका स्वाभाविक रुझान कहिए या अंग्रेज़ी हुकूमत द्वारा पैदा की गई परिस्थितियों का परिणाम कि वे कला-विलास के लिए ही समर्पित होकर रह गये। वे संगीत के बड़े प्रेमी थे और नाटकों और रासों में उनकी रुचि सर्वविदित थी। वे स्वयं कृष्ण कन्हैया का स्वांग धारण करते और उनका अधिकांश समय भोग-विलास में व्यतीत होता। वेश्याओं का बोलबाला उन्हीं के युग में चरम स्थिति पर पहुँचा। यह अवश्य है कि शायरी के प्रति शिष्ट और सम्भ्रांत रुचि उनके भीतर बची हुई थी। वे स्वयं शे'र कहते और शायरों का सम्मान करते थे। उन्हीं के युग में 'आतिश' और 'नासिख़' के शागिर्दों –रिंद, रश्क, सबा, वज़ीर आदि – के हाथों लखनऊ में उर्दू शायरी का चौथा दौर आरम्भ हुआ।

कहने का अभिप्राय यह है कि इन्हीं परिस्थितियों में १८५६ ईसवीं में ईस्ट इंडिया कम्पनी की हुकूमत ने अवध पर आधिपत्य कर लिया और फिर अवध ब्रिटिश शासित भारत में सम्मिलित हो गया। इसके बाद का युग भारत के मध्ययुग से निकलकर स्पष्ट रूप से आधुनिक युग में प्रवेश का युग है। जिसमें दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य की भाँति उर्दू साहित्य में भी नई-नई प्रवृत्तियों का आविर्भाव होने लगा। जहाँ तक ग़ज़ल का सम्बन्ध है अधिकांश शायरों ने लखनऊ छोड़ दी और रामपुर और हैदराबाद नये केंद्र बने। रामपुर में विशेष रूप से 'दाग़' देहलवी के प्रभाव से एक संतुलित रंग पैदा हुआ। 'अमीर', 'जलाल' और 'तस्लीम' इसके प्रतिनिधि शायर कहे जा सकते हैं। खुद 'दाग़' की शायरी पर 'आतिश' और लखनऊ की शायरी का कितना प्रभाव था और था भी या नहीं ? यह अलग बात है।

(२)

कलाकारों का दिल्ली छोड़कर दूसरे स्थानों के अलावा सबसे ज़्यादा अवध में जा बसने का सिलसिला शुजाउद्दौला के दौर में शुरू हुआ था। जिसका केंद्र फ़ैज़ाबाद था। शुजाउद्दौला थी निजी रुचि और परिश्रम के कारण फ़ैज़ाबाद एक सुंदर शहर बन गया था। लेखक, सिपाही, व्यापारी और शिल्पकार वहाँ एकत्र होने लगे। फ़ारसी के धुरंधर विद्वान और उर्दू के यशस्वी लेखक सिराजुद्दीन अली खाँ 'आरज़ू' (निधन १७५६ ईसवी) सबसे पहले आमंत्रित किये जाने वालों में से थे। दिल्ली में अधिकांश शायरों को उन्होंने ही रेख़्तागोई की ओर प्रेरित किया था। कई प्रतिष्ठत उर्दू शायरों की शिक्षा-दीक्षा में उनका हाथ था। दिल्ली के सम्भ्रांत वर्ग की भाषा 'उर्दू-ए-मुअल्ला' और रेख़्ता के परिमार्जन और

सुधार के अभियान में वे मिर्ज़ा मज़हर जानजानाँ (निधन १७८१ ईसवी) के साथ आगे-आगे रहते थे। यही अभियान बाद में लखनऊ में 'नासिख़' और 'आतिश' तथा उनके शागिर्दों के प्रयास से आगे बढ़ा और उसने एक खास रंग अख़्तियार कर लिया। अब्दुल हलीम 'शरर' के अनुसार, "शायरी और कमाले जबाँदानी के लखनऊ में आने की बुनियाद इन्हीं (ख़ान-ए-आरज़ू) से पड़ी"। जाफ़र अली 'हसरत' (निधन १७९२) मीर 'जाहिक' और उनके बेटे मीर हसन (निधन १७८६ ईसवी) रचयिता मस्नवी 'सहरुल बयान' और मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' नवाब शुजाउद्दौला के युग में ही लखनऊ पहुँचे थे। आसफुद्दौला के उदारतापूर्ण संरक्षण के कारण बड़ी संख्या में और शायर लखनऊ पहुँचे क्योंकि अब शासन का केंद्र यही था और फ़ैज़ाबाद की छटा यहाँ दिखाई देने लगी थी। मीर तक़ी 'मीर', मीर 'सोज़' और 'मुसहफ़ी' आसफ़ुद्दौला के शासनकाल में ही वहाँ पहुँचे थे। लखनऊ में उर्दू शायरी के पहले दौर की शुरूआत इन्हीं शायरों के प्रयासों का परिणाम है। 'इंशा', 'जुरअत' और 'रंगीन' जिनकी शायरी की शुरूआत दिल्ली में हुई थी आसफुद्दौला के बाद लखनऊ पहुँचे और उनकी शायरी ने एक विशेष रूप ग्रहण कर लिया जिससे लखनऊ के स्थानीय रंग की बुनियाद पड़ी। यह लखनऊ में उर्दू शायरी का दूसरा दौर था। लेकिन एक साहित्य-केंद्र बन जाने के बावजूद लखनऊ ने दिल्ली की तुलना में निजता के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखाया बल्कि इसकी घोषणा तक नहीं की। ये सब 'दिल्ली वाले' होने में गर्व अनुभव करते थे। हालांकि कई मुग़ल शाहज़ादे भी लखनऊ आकर बस गये थे और उनके यहाँ भी शे'रो-सुख़न की महफ़िलें होती थी। बल्कि 'इंशा' और 'मुसहफ़ी' के साहित्यिक विवादों की शुरूआत भी वहीं हुई थी। 'मुसहफ़ी' की परम्परा के अनुसार लखनऊ में मुशायरे ही नहीं बल्कि गद्य-गोष्ठियाँ भी आयोजित होने लगी थीं। जिनमें निबंधकार, मुंशी और पर्चे लिखने वाले सम्मिलित होते थे और अपनी गद्य-रचना का कौशल दिखाते।

अतएव दिल्ली के सुरूचिपूर्ण लोगों, लेखकों और शायरों के दिल्ली को छोड़कर वहाँ बस जाने के कारण बक़ौल 'इंशा', "शाहजहानाबाद (दिल्ली) क़ालिब-ए- बेजान और लखनऊ उसकी जान बन गया था।" दिल्ली में अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध्द में जो शायरी अपने चरमोत्कर्ष पर थी उसे भ्रांतिमूलक (ईहाम गोई) शायरी के नाम से याद किया जाता है। भ्रांतिमूलक शायरी ने निस्संदेह शब्दों की खोज करना सिखाया लेकिन उसमें बहरहाल सतहियत थी जिसका बड़ी शायरी से कोई बुनियादी सम्बंध नहीं है। पूर्वार्ध्द तक के शायरों

की शायरी में रूप और सौंदर्य के चित्र भी मिलते थे। राजनीतिक बिखराव और आर्थिक दुर्दशा ने इस प्रवृत्ति में बदलाव ला दिया और दिल्ली के शायरों की भ्रांतिमूलक शायरी के अंतर्बाह्य पक्षों पर इसका सीधा-सीधा प्रभाव पड़ा। उनके स्वभाव में एक विशेष कैफ़ियत पैदा हो गई जिसे उनकी शायरी में अभिव्यक्ति मिली। उनके स्वभाव की इसी कैफ़ियत को 'देहलवीयत' कहा जाता है। अपने मन की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने की उन्होंने जो शैली अपनाई उसमें सहजता, शालीनता, कोमलता और निश्छलता थी। इससे भी आगे सुगमता और मार्मिकता का इसमें विशेष ध्यान रखा जाता था। अर्थ की सम्पन्नता और वर्णन शैली की स्वच्छता उनका मुख्य ध्येय था। चिंतन के स्तर पर उनमें मदिरा-प्रेम और फक्कड़पन की झलक भी मिलती थी। इसके साथ-साथ एकेश्वरवाद की शिक्षा और प्रणय-भावना का सहज किंतु प्रभावपूर्ण वर्णन भी उनके यहाँ मिलता है। उनका सौहार्द और मानव-प्रेम अगर आम तसव्वुफ़ की देन था तो उस गंगा-जमनी साझा संस्कृति की भी देन था जो मुसलमानों के भारत आगमन के बाद देश में फली-फूली थी।

इसमें संदेह नहीं कि फ़ारसी साहित्य इन शायरों के स्वभाव में रचा बसा था। फ़ारसी शायरी की विधा को ही उन्होंने अपनाया था। बल्कि दूसरे शब्दों में उर्दू ने उड़ने के पंख फ़ारसी से ही उधार लिये थे। इसी कारण उर्दू शायरी में ईरानी, अरबी, तुर्की अंतर्कथाओं, उपमाओं और प्रतीकों की प्रचुरता दिखाई देती है और बहुधा फ़ारसी मुहावरों का अनुवाद भी। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि उर्दू शायरों के साहित्य में भारतीयता के तत्व नहीं थे। कुल मिलाकर ही नहीं बल्कि अलग-अलग शायरों की चेतना पर उस दौर की धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थिति से उत्पन्न होने वाले भारत के सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव बखूबी देखा जा सकता है। और उनकी अभिव्यंजना शैली में सहज रूप से भारतीय उपमाओं, प्रतीकों और अंतर्कथाओं को खोजा सकता है।

भ्रांति के प्रयोग को ही लीजिए जिसे अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक दिल्ली के उर्दू शायरों (अर्थात् लखनऊ जाने वाले दिल्ली के शायरों से पूर्व के शायर) की विशिष्टता समझा जाता है। इसके विषय में यह बात अब निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि यदि अठारहवीं शताब्दी की यहाँ भ्रांतिमूलक शायरी पिछले फ़ारसी शायरों के प्रभाव का परिणाम थी तो साथ ही इसमें हिंदी दोहों का प्रभाव भी सक्रिय रहा था।

दिल्ली में कमोबेश अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक जो शायरी अपने उत्कर्ष पर थी, उसमें ऐंद्रिकता भी थी, जो सीधे-सीधे एक पतनशील संस्कृति का प्रतिबिम्ब था। लेकिन

इसके साथ-साथ सौंदर्य-वर्णन में वासना झलकती थी तथा आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति में अबोधता भी दिखाई देती थी। कुछ पर्दे के चलन की वजह से कहिए और कुछ तसव्वुफ़ (अध्यात्म चिंतन) के प्रभाव से, इसमें ऐंद्रिकता की प्रवृत्ति बहरहाल मौजूद थी।

यह बात ध्यान में रखना ज़रूरी है कि दिल्ली के वैचारिक और सांस्कृतिक परिवेश पर तसव्वुफ़ का गहरा प्रभाव पड़ा था। तस्वुफ़ के आरम्भ या स्रोत पर हमें यहाँ चर्चा नहीं करना है और न ही इस बात पर कि इसमें इस्लाम के अलावा और किस धर्म या विश्वास का कितना हस्तक्षेप रहा था। संकेत के रूप में यह कहा जा सकता है कि तेरहवीं शताब्दी ईसवी में तातारी आक्रमणों से अब्बासिया सल्तनत के पतन के बाद जो विनाश हुआ और जो निराशा का वातावरण बना था उसके परिणामस्वरूप मुसलमानों में संसार की क्षण-भंगुरता का भाव घर कर गया था। इसके अलावा यह धारणा भी बन गई थी कि इस भौतिक संसार से परे जो आध्यात्मिक संसार है, उस तक बुद्धि की पहुँच सम्भव नहीं है। क्योंकि बुद्धि का सम्बन्ध केवल इंद्रियों से है।

तसव्वुफ़ का ही प्रभाव था कि यह धारणा आम हो गई थी कि सृष्टि के कण-कण में एक परम आत्मा विद्यमान है। वही मूल सत्य है। शेष सब दृष्टि का भ्रम है। ईश्वर के साक्षात्कार में बुद्धि से अधिक भावना तथा मस्तिष्क से अधिक हृदय का योगदान रहता है। इससे बढ़कर यह कि अपनी सत्ता को ईश्वर के प्रेम में विलीन कर देने में ही मोक्ष का रहस्य छुपा हुआ है। ईश्वर का साक्षात्कार सीधे-सीधे आत्मिक अनुभवों और आत्म-बोध से ही सम्भव है। इन बातों के संदर्भ में यह धारणा आम हो गई कि इस संसार के प्रति उदासीन और निस्पृह होना श्रेयस्कर है। संसार की दरिद्रता कुछ ऐसी बुरी बात नहीं है। वास्तविक सुख और वैभव तो वहाँ का है और सांसारिक मान-प्रतिष्ठा कुछ ऐसी चीज़ नहीं है जिस पर घमंड किया जाये या जिसके लिए दौड़-धूप की जाये।

इसमें संदेह नहीं कि तसव्वुफ़ इच्छाओं के त्याग, परमात्मा के विश्वास और परहित व परोपकार की शिक्षा देता है। यह स्वार्थ के तिरस्कार और ईश्वर की सृष्टि से प्रेम की प्रेरणा देता है। इसके साथ ही लोभ या भय से प्रेरित औपचारिक प्रार्थना से बचाव का संदेश देता है। एक और यह परमात्मा से मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करता है, दूसरी ओर धार्मिक सहिष्णुता, शांति और सौमनस्य की शिक्षा देकर धार्मिक और वर्गीय हदबंदियों को तोड़ता है। और मनुष्य से मनुष्य के सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाता है। इसमें सबसे अधिक बल मनुष्य के मनुष्य होने अर्थात् हृदय की वेदना या सहानुभूति और सदाचार पर है

न कि ज़ाहिरी रीतिरिवाज़ पर आधारित भेदभाव या सांसारिक यश-प्रतिष्ठा पर। स्पष्ट है कि ये शिक्षाएँ किसी भी व्यक्ति या समुदाय का धर्म हो सकती हैं और अत्यंत लाभदायक सिद्ध हो सकती है। क्योंकि इनका संबंध बुनियादी रूप से आत्म-सुधार और नैतिक मूल्यों के प्रचार-प्रसार से है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि एकेश्वरवादी धर्मों पर सूफ़ियों की दृष्टि टिकी हुई थी। इस्लाम के एकेश्वरवाद और वेदांत के दर्शन में एक समानता दृष्टिगत होती थी जिससे तसव्वुफ़ के प्रभाव का दायरा और बढ़ गया था और भारत में सूफ़ियों के प्रभाव से हिन्दू एवं मुस्लिम चिंतन में एक सामंजस्य दिखाई देने लगा था।

इसके अलावा शुद्ध भौतिकवादी या सांसारिक दृष्टि से तसव्वुफ़ निरंकुश राजसत्ता से सम्बन्ध विच्छेद या असहयोग का प्रतीक भी था। वह राजसत्ता जिसमें अत्याचार, दरबारी खुशामद, षडयंत्र और स्वार्थों का बोलबाला था। इस दृष्टि से भी तसव्वुफ़ की एक सकरात्मक भूमिका थी।

लेकिन इसके साथ यह भी हुआ कि समादृत सूफियों और स्वच्छंद वृत्ति वाले लोगों के लिए प्रकट उपासना पद्धति और धर्म सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा में गर्व की अनुभूति होने लगी। इसी प्रकार शायर भी धर्मगुरुओं के उपदेशों का उपहास करने में स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करने लगे। लौकिकता को परमसत्य तक पहुँचने के एक सोपान की धारणा ने सौंदर्य प्रेम की अभिव्यक्ति को उचित ठहरा दिया। इस प्रवृत्ति में वासना-लोलुप हो जाने का खतरा था और दूसरी तरफ़ पर्दे के चलन के कारण ऐंद्रिकता के उत्पन्न हो जाने का भय भी था। संसार की अविश्वसनीयता और थोड़े में ही संतोष कर लेने की भावना पर बल देने का नतीजा यह हुआ कि सांसारिक जीवन से उदासीनता, संघर्ष से विमुखता, एकांत प्रियता और निष्क्रियता समाज में बढने लगी। और इस प्रकार यह आत्म-पराजय और सामाजिक वास्तविकता से पलायन का पर्याय प्रतीत होने लगा। इन बातों का दिल्ली की उर्दू शायरी पर प्रभाव पड़ा था।

दिल्ली में भौतिक परिस्थितियों या सामाजिक वास्तविकता से एक प्रकार की उदासीनता के भाव को धार्मिक आश्रमों की बढ़ती हुई लोकप्रियता तथा उर्सों और क़व्वालियों की भरमार में देखा जा सकता है। सूफ़ी उपासना पद्धति से उत्पन्न उदारता, सौहार्द और सर्वधर्म समभाव और मानवप्रेम के विषय में कोई संदेह नहीं और न ही उर्सों व क़व्वालियों से रेख़्ता की शायरी को जो प्रोत्साहन मिला, उस पर कोई संदेह किया जा सकता है। लेकिन इस दौर में तसव्वुफ़ की कोई सक्रिय और प्रभावशाली भूमिका नहीं रही

थी। चर्चित युग अर्थात् अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में इस्लामी हुकूमतों के पतन तथा तेरहवीं शताब्दी की इस्लामी दुनिया के पतन के बीच भारी समानता थी। यहाँ भी राज्य के कुप्रबंध, लूटमार, हिंसा व विनाश, राजनीतिक और आर्थिक दुरवस्था के कारण सामान्य जन निराशा और असहायता का शिकार थे। फिर क्योंकि उर्दू (रेख़्ता) के शायर परम्परा से प्राप्त फ़ारसी शायरी का अनुसरण कर रहे थे। फ़ारसी शायर स्वयं तसव्वुफ़ से प्रभावित थे। इसलिए तसव्वुफ़ और इसके विषयों के साथ-साथ निजी रागात्मक अनुभूतियों का वर्णन अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली की शायरी की एक पहचान बन गई थी। 'शहर-ए-आशोबों'[1] से बचते हुए इस पीड़ा और वेदना की सबसे प्रभावशाली अभिव्यक्ति ग़ज़ल में हुई क्योंकि यही सर्वाधिक लोकप्रिय विधा थी। इसमें सांकेतिक रूप से कठिन से कठिन विषय को बड़े कलाकौशल के साथ व्यंजित किया जा सकता था। इसके साथ ही कोमल से कोमल अनुभूतियों को अत्यंत सीमित शब्दों में अभिव्यक्ति दी जा सकती थी। कभी-कभी ग़ज़ल में ही किसी शायर (मीर) के यहाँ फक्कड़पन की शान से दिलजले की-सी पुकार निकल जाती थी। लेकिन कुल मिलाकर मदिरा के प्रति एक भोली और झूठी आसक्ति के बावजूद भाव तरलता, उदासी और वंचना का रंग झलकता था।

कहने का अभिप्राय यह है कि संसार की क्षणभंगुरता, मनुष्य की नियति, लौकिक प्रेम को ईश्वर प्रेम का सोपान मानकर उसे हेय न समझना और इसके साथ-साथ सुरा-सुंदरी से प्रेम की सगर्व घोषणा तथा उपदेशकों की नसीहतों पर छींटाकशी आदि वे बातें है जो तसव्वुफ़ की आम छवि तथा तसव्वुफ़ के चिंतन से आक्रांत फ़ारसी शायरी के प्रभाव से उर्दू शायरी में आई। इसके साथ इसमें प्रेम-प्रसंगों का एक ऐसा रूप भी मिलता है जिसमें वियोगी प्रेमी अपने हृदय की वेदना से गौरवान्वित, दुःखों से प्रसन्न किंतु अपने प्रिय के प्रति निष्ठावान दिखाई देता था। और प्रिय को निष्ठुर तथा निर्दयी स्वीकार किया जाता था। समाजार्थिक परिस्थितियों या आजीविका के संकट के कारण दिल्ली से लखनऊ जाने वाले शायरों में सौंदर्य-प्रेम के बावजूद पीड़ा और वेदना के भावों की विद्यमानता स्वाभाविक थी। इन भावों का प्रभाव उनकी शायरी के अंतर्बाह्य पक्षों पर बखूबी देखा जा सकता है। लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि चाहे वे सूफ़ीमत से प्रभावित विषय हों या प्रेम-प्रसंग हों, आमतौर पर उनमें एक सतहियत थी। सच्चाई तो यह है कि ऐसा

१. शायरी की वह विधा जिसमें वहाँ के बाशिंदों उनमें भी पेशावरों के नौजवान लड़कों की सुंदरता का फूहड़ चित्रण किया जाता था।

मालूम होता था जैसे तसव्वुफ़ हो या प्रेम महज़ औपचारिक बनकर रह गया हो, सिर्फ़ शे'र कहने भर के लिए इन विषयों का चुनाव किया जाता हो !

वैभवशाली लखनऊ में पहुँचकर दिल्ली की इस सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा में काफ़ी परिवर्तन आ गया। इस परिवर्तन पर चर्चा करने से पहले यह बात ध्यान में रखना ज़रूरी है कि औरंगज़ेब (निधन १७०७ ईसवी) के बाद दिल्ली में भी कई मुग़ल शासकों और सरदारों का सुरा-सुंदरी प्रेम किसी से छुपा हुआ नहीं था। मामूली दर्जे की स्त्रियाँ भी 'इम्तियाज़ महल' जैसे ख़िताब पाकर पटरानी बन सकती थीं। लेकिन भोग विलास और मौज-मस्ती का यह रंग नादिरशाह के आक्रमण के बाद फीका पड़ गया। इसे धार्मिक आश्रमों द्वारा प्रचारित तसव्वुफ़ का प्रभाव समझिए या आर्थिक दुर्दशा का परिणाम कि सुरा-सुंदरी प्रेम की तुलना में मज़ार परस्ती और छिछली विनोदप्रियता को ज़्यादा महत्त्व दिया जाने लगा था तथा स्वनामधन्य सूफ़ियों की लोकप्रियता दिन-ब-दिन बढ़ती जाती थी। मज़ारों पर क़व्वालियाँ, महफ़िलें और मेले-ठेले आये दिन आयोजित होते रहते थे जिनमें गवैयों के साथ-साथ वेश्याएँ भी सम्मिलित होती थीं और दर्शकों का मन मोहती थीं। अतएव मज़ार एक तरह से अर्द्ध धार्मिक, अर्द्ध सामाजिक महफिलों तथा संगीत एवं सौंदर्य प्रेम के केंद्र बन गये थे। किसी व्यक्ति के शब्दों में "सुरा-सुंदरी प्रेम और धर्म साथ-साथ चलते थे।" और यही रंग उर्दू शायरों के कृतित्व में दृष्टिगत होता था। और इस शृंगारिक प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी वे अपनी शायरी में वेश्याओं के नाम का उल्लेख करने में भी संकोच अनुभव नहीं करते थे। लेकिन ढलती हुई अठारहवीं शताब्दी के दिल्ली के शायरों में अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहाने का भाव अधिक मुखर था।

इसी प्रकार तसव्वुफ़ के अशिष्ट रूप का प्रभाव समझिए या बीते हुए वसंत की चुभन या प्रचलित दरबारी शिष्टाचारों से असंतोष या व्यर्थ की आन-बान और मान-प्रतिष्ठा से घुटन का परिणाम; समाज में एक नये चरित्र ने जन्म लिया था जिसे 'बाँके' के नाम से जाना गया। यह सूफ़ी न था लेकिन कभी सूफ़ियों और क़लंदरों की तरह स्वच्छंदता का दम भरता था। कभी सिपाही न होते हुए भी सिपाहियाना शान और रौब दिखाता नज़र आता था। मुहम्मद शाह के युग (१७१९ से १७४८ ईसवी) में दिल्ली के बाँके मशहूर थे। लखनऊ के समाज में भी बांकों का एक विशिष्ट रूप में उल्लेख मिलता है। देहलवी शायरों की उर्दू ग़ज़ल में प्रिय के लिए 'बाँके' शब्द का प्रयोग उसकी निराली सज-धज के कारण ही मिलता है। लेकिन बाँके के जिस स्वरूप पर हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं, यह

उससे भिन्न है। यह कभी क़लंदराना शान से कफ़नी-सैली पहने, कभी ज़ाफ़रानी कभी नीले आसमानी लबादे में, हाथ में भिक्षा-पात्र या सौंटा और छड़ी या झंडा लिये, कभी दाढ़ी-मूंछ मुंडवाये, भौंहों का सफ़ाया करवाये, कभी बाल बढ़ाये, कभी नंगे सिर, कभी रूमाल बांधे, कभी कपड़ों से भी बेपरवा, कभी अच्छे-ख़ासे सैनिक बने, उस युग के अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, बात-बात पर युद्ध के लिए तैयार याने एक विचित्र उन्माद में हवा से लड़ने को तत्पर दिखाई देते थे।

बाँकों के अस्तित्व को बातों में उड़ा देना या उन्हें एक सनकी या विक्षिप्त चरित्र समझकर उपेक्षित करना दूसरी बात है। लेकिन यदि गंभीरता से जायज़ा लिया जाये तो यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि समाज में ऊपरी तौर पर तो वैभव और सम्पन्नता दिखाई देती थी किंतु भीतर ही भीतर लोग हताशा और टूटन अनुभव कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति को अपना जीवन बिताने के लिए एक नये किस्म के रूप और चरित्र की खोज होना स्वाभाविक थी। यह स्वयं को झूठी तसल्ली देने की एक कोशिश का इज़हार था और यह ज़रूरी भी था। किसी साफ़-सुथरी सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए किसी सामूहिक क्रांतिकारी आन्दोलन की कल्पना उस युग में की भी जा सकती थी या नहीं ? शाह वली उल्लाह देहलवी (निधन १७६२ ई.) की नज़र अवश्य इस बिगड़ी हुई परिस्थिति के आर्थिक कारणों पर पड़ी थी। लेकिन इस आंदोलन का आरम्भ उनकी शिक्षाओं और राजनीतिक उथल-पुथल से प्रभावित होकर हुआ था और जिसे शाह अब्दुल अज़ीज़ (निधन १८२४ ईसवी), शाह इस्माईल और सैयद अहमद बरेलवी (निधन १८३१ ईसवी) ने आगे बढ़ाया था, वह अपने-आप में एक क्रांतिकारी आंदोलन था भी या नहीं ? ये अलग बहसें हैं। वैसे भी उस युग में यह आंदोलन चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर बाद में असफल हो गया था।

समाज के सामान्य जन-जीवन की स्थिति यह थी कि अमीर अपने माल में मस्त था और फ़क़ीर अपने हाल में। हर व्यक्ति अपनी गरिमा का ध्यान रखता था। समाज, समाज कम था और व्यक्ति, व्यक्ति ज़्यादा । अर्थात् लोगों के बीच पारस्परिक सौहार्द और आत्मीयता के वे सम्बन्ध टूट कर बिखरने लगे थे जिनमें ऊंच-नीच का भेदभाव तो बहरहाल मौजूद रहता था लेकिन फिर भी चाहे भाग्यवाद के कारण ही सही एक बंधन में सब बंधे रहते थे।

ग़ज़ल जिसमें एक-एक शे'र में अलग-अलग भाव को व्यक्त करने या अलग-अलग

कल्पना या चित्र को प्रस्तुत करने की गुंजाइश है, शायद इसीलिए ज़्यादा लोकप्रिय रही और इस पर आंतरिक या निजी भावों की अभिव्यक्ति का रंग इसी वजह से छाया रहा। इसके शालीन रूप एवं शिल्प की यह एक विशेषता समझिए कि इसके पर्दे में अच्छा-बुरा सभी कुछ मौजूद रह सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि लखनऊ का समाज बुनियादी तौर पर दिल्ली के समाज का नमूना ही था। शायद ही ऐसी कोई परम्परा या संस्था हो, जो इसी रूप में दिल्ली में विद्यमान न रही हो। लेकिन दिल्ली की बर्बादी से उत्पन्न असंतोष के वातावरण की अपेक्षा में लखनऊ शहर में सुख-शांति थी। दूसरे वहाँ का समूचा समाज एक तरह से दरबार पर ही टिका था। वृत्ति पाने वाले शायर व कलाकार अवध के दरबार से ही जुड़े हुए थे। जबकि दिल्ली में समग्रतः ऐसा न था। दिल्ली में सांस्कृतिक दृष्टि से दरबार की अपेक्षा धार्मिक आश्रमों (ख़ानकाह) को एक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली संस्था माना जाता था।

रही शायरों के परस्पर साहित्यिक विवादों की बात तो यह एक प्रकार समकालीनों की नोंक-झौंक होती है और किसी हद तक यह स्वाभाविक भी है। अतएव खुद दिल्ली के उर्दू शायरों में 'हातिम' और शाकिर नाजी की आपसी नोक-झौंक मशहूर थी। बाद में लखनऊ की इसी दरबारदारी के कारण ऐसी स्वाभाविक प्रतिद्वंद्विताएं इतनी फूहड़ और अशिष्टतापूर्ण बन गई कि इनमें कभी-कभी हुक्मरान भी लपेट में आ जाते थे। इसी साहित्यिक छेड़-छाड़ का एक पहलू यह भी था कि शायर एक दूसरे पर अपनी श्रेष्ठता जताने के लिए ग़ज़ल पर ग़ज़ल कहते चले जाते थे और इसी वजह से ग़ज़ल कहने के लिए हर सम्भव क़ाफ़िए भी तलाश किये जाते थे और सख़्त से सख़्त ज़मीनें भी।

इसके साथ यह अनुमान भी कर लेना चाहिए कि जहाँ एक स्वाधीन बादशाहत की घोषणा और कम्पनी की सुरक्षा में आने के बाद सिपाहीपेशा व सम्भ्रांत परिवारों के अधिकांश लोग ज़नानखानों में सिमट जायें और जहाँ हुक्मरान भी ज़नाना लिबास पहनने में संकोच न करते हों (नसीरुद्दीन हैदर), वहाँ सांस्कृतिक परिवेश क्या और कैसा होगा और इस परिवेश में जन्म लेने वाली शायरी का क्या रंग होगा ?

अतएव लखनऊ दरबार में रख-रखाव, वेश-भूषा, बोलचाल अर्थात् समूचे सामाजिक शिष्टाचार में संकोच और हल्कापन-सा आता गया जो अन्य कलाओं में भी प्रकट रूप में देखा जा सकता है। इसी को लखनऊ की सांस्कृतिक विशिष्टता के रूप में जाना गया। इसमें दुनियादारी की नई-नई रस्में, विलासिता, खास तरह की सामाजिक प्रतिष्ठा, नुमाइश और दिखावा तथा इस्लामी इतिहास के एक अध्याय कर्बला के प्रति गहरी

दिलचस्पी आदि चीजें साफ़ तौर पर देखी जा सकती थीं। इन सबका प्रभाव वहाँ की उर्दू शायरी पर भी पड़ा। मातम और शहादत के बयान की महफ़िलों तथा मर्सिया गोई और मर्सियाख़्वानी का आयोजन दिल्ली में भी होता था। फ़ज़्ली की 'दह मजलिस' (कर्बलकथा) दिल्ली का ही कारनामा थी लेकिन यह प्रवृत्ति लखनऊ में आकर ज़्यादा पुष्ट हुई और बाद में लखनऊ में मर्सिया का ऐसा उत्कर्ष हुआ कि वैसा कहीं और न हो सका। यही नहीं बल्कि कालांतर में शायरों ने मर्सिए में ओजपूर्ण शैली का प्रयोग भी शुरू कर दिया जिससे लखनऊ में क़सीदे के अभाव की पूर्ति भी हो गई। कमोबेश यही स्थिति सोज़ख़्वानी[1] के साथ भी रही। ग़ज़ल निस्संदेह वहाँ लोकप्रिय विधा रही लेकिन वर्णनात्मक शायरी की ओर अधिक ध्यान लखनऊ में ही दिया गया। मीर हसन की मस्नवी, 'सौदा' की अधिकांश हिजूएँ[2] और 'मीर' के शिकारनामे वहीं प्रकाश में आये। निस्संदेह ग़ज़ल के काव्य-विषयों में वहाँ तसव्वुफ़ की कमी अखरती थी लेकिन तसव्वुफ़ को एकदम तिलांजलि नहीं दे दी गई। इस कमी का कारण कुछ तो आश्रयदाताओं का एक विशेष धर्मिक रुझान भी था लेकिन बुनियादी तौर पर इसका कारण ऐतिहासिक परिस्थितियों का बदलाव था।

लखनऊ की इसी सम्पन्नता और शासकों की विलासप्रियता का ही परिणाम था कि वे बातें जो दिल्ली की परिस्थितियों में खुलकर नहीं हो सकती थीं, लखनऊ में प्रकट रूप में दिखाई देने लगीं। राज्य के प्रबन्ध का दायित्व कम्पनी अपने हाथों में लेती जाती थी और अवध के शासक बेबसी और लाचारी में भोग-विलास की महफ़िलों में सिमटते जाते थे। मनोरंजन के साधनों को ही लीजिए। ऐसा नहीं कि दिल्ली में वेश्याओं का अस्तित्व न रहा हो और वहाँ मेलों-ठेलों में वेश्याएं शामिल न होती हों। लखनऊ जाने वालों में धर्मवित्ता, विद्वान, शायर, मुसाहिबपेशा और क़िस्सा कहने वालों के अलावा वेश्याएँ भी थीं। लेकिन लखनऊ में वेश्याओं के प्रति इतनी रुचि बढ़ गई थी कि जब अवध के नवाब इलाकों का दौरा करते तो उनके शाही ख़ेमे के साथ साथ वेश्याओं के ख़ेमे भी होते थे। अमीरों और सरदारों ने भी निस्संकोच भाव से यही रंग-ढंग अपना लिया था। वेश्याओं के प्रति रुचि एक प्रकार से गर्व की बात समझी जाने लगी थी। यहाँ तक कि लखनऊ में यह मशहूर हो गया था कि "जब तक इन्सान को रंडियों की सुहबत न नसीब हो, आदमी नहीं बनता ।"

तसव्वुफ़ के चलन की कमी तथा भोग-विलास की अतिशयता के कारण लखनऊ

---

१. मुहर्रम में सोज़ (शोक की नज़्म) पढ़ना २. किसी का मज़ाक उड़ाने के लिखी गई नज़्म

की शायरी में सुंदर लड़कों से प्रेम करने का भाव कम होता गया। लेकिन इसके साथ ही साथ ही लौकिक प्रेम के वर्णन में वियोग की अपेक्षा संयोग के विषयों को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। 'दर्द ' और 'मीर' की वेदना प्रधान और तसव्वुफ़ से युक्त शायरी की तुलना में यहाँ एक तरह की जीवंतता, उत्कंठा और चंचलता दिखाई देने लगी। इस नई प्रवृति का सम्बन्ध किसी हद तक दिल्ली की ईहाम (भ्रांति) और सौंदर्यप्रेम से युक्त शायरी से स्थापित किया जा सकता है। क्योंकि लखनऊ की शायरी में मुआमलाबंदी[1] के प्रसंगों को ज़्यादा महत्त्व दिया जाने लगा।

यह बात भी ध्यान में रख लेनी चाहिए कि शृंगारिक शायरी में अठारहवीं शताब्दी के देहलवी शायरों का प्रिय भी हमेशा ईश्वर के रूप में विद्यमान नहीं था अर्थात् माशूक़-ए-हक़ीक़ी ही नहीं था। वे हाड़-माँस के मनुष्य से भी प्रेम करने के क़ायल थे। दूसरे शायरों के अलावा खुद ख्वाजा मीर 'दर्द (जो सामान्यतः एक सूफ़ी थे) के ऐसे शृंगरिक शे'र मौजूद हैं जिनमें लौकिक प्रेम की महक है। उनके भाई ख़्वाजा मीर 'असर' की मस्नवी 'ख्वाब-ओ ख़्याल' के रूपक-काव्य या नीति-काव्य होने के बावजूद इसके सौंदर्य चित्रण में लौकिकता के स्पर्श से इनकार नहीं किया जा सकता। 'मीर' के यहाँ भी यह प्रवृति स्पष्ट रूप से विद्यमान है। लेकिन गज़ल की शायरी में, यह सब कहने के बाद भी, यह कहना पड़ता है कि दिल्ली में तसव्वुफ़ के साथ-साथ ऐतिहासिक परिस्थितियों से उत्पन्न निराशाजनक वातावरण का प्रभाव प्रमुखता के साथ विद्यमान था। दिल्ली के शायर अभावों की बात ज़्यादा करते थे। अर्थात् अन्य बातों की तरह इस दृष्टि से भी दिल्ली और लखनऊ की शृंगारिक शायरी में तात्विक अंतर कम था और श्रेणी का अंतर ज्यादा था। बहुत सम्भव है यदि दिल्ली विपत्ति के दिन न देखती, धार्मिक आश्रमों (ख़ानक़ाह) का दीर्घकालिक प्रभाव न होता और सुख-समृद्धि होती तो वहाँ की शायरी में भी वेदना का स्वर इतना प्रभावी न होता जितना कि 'मीर' और 'दर्द' की रचनाओं में दृष्टिगत होता है।

दिल्ली से पहले-पहल अवध आने वालों ने दिल्ली की दुर्दशा और तबाही की तुलना में यहाँ सम्पन्नता के वातावरण में चैन की साँस ली। क्योंकि इनसे पहले अवध में उर्दू शायरी की कोई परम्परा नहीं थी और पहले आने वाले शायरों का सोच दिल्ली में ही पुख्ता हो चुका था; इन दो कारणों से कमोबेश उनकी शायरी का वही रंग क़ायम रहा जिसकी

१. शायरी की वह विधा जिसमें प्रेमी एवं प्रेमिका की परस्पर शिकायतों का खुलकर वर्णन किया जाता है ।

ओर संकेत किया गया है। अतएव 'मीर', मीर 'सोज़' और 'सौदा' के यहाँ भाव और अभिव्यंजना में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता।

बाद में अवध पहुँचने वाले शायरों की विषादपूर्ण मनःस्थिति और अवध के दरबार की बढ़ती हुई रंगीनियों के प्रभाववश जाफ़र अली 'हसरत' और 'मुसहफ़ी' (निधन १८२४ ईसवी) के यहाँ शायरी का रंग बदलना शुरू हुआ और 'जुरअत' के यहाँ खासतौर से वह विशेषता पैदा होने लगी जिसे 'मुआमलाबंदी' कहते हैं। जिसका चरमरूप एक ओर हज़ल गोई[1] और फूहड़पन को कहा जा सकता है और दूसरी ओर किसी हद तक रेख़्ती[2] को।

मुआमलाबंदी से अभिप्राय उन खुली-खुली बातों के वर्णन से है जो प्रेमी और प्रेमिका के बीच संयोग की स्थिति में होती हैं। दिल्ली के मशहूर शायर 'मोमिन' (निधन १८५१ ईसवी) की शायरी में भी मुआमलाबंदी के उदाहरण मिलते हैं। लेकिन उनके यहाँ शिष्टता की उपेक्षा नहीं की गई है। ज़ाहिर है कि ऐसी निजी बातों के वर्णन में यदि शालीनता और शिष्टता का ध्यान न रखा जाये तो नतीजा हज़ल और फूहड़पन ही होगा।

लखनऊ के दरबारी वातावरण में एक प्रकार की स्त्रैणता उत्पन्न हो गई थी जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है। रेख़्ती के चलन का कारण वर्जित विषयों पर आधारित मुआमलाबंदी और दरबारी स्त्रैणता ही थी। रेख़्ती में यों तो स्त्रियों के प्रसंग स्त्रियों की ही भाषा में बयान किये जाते हैं जिसकी झलकियाँ हाशमी बीजापुरी के अलावा दिल्ली में 'अंजाम' (१७४९ ईसवी) के यहाँ मिल जाती हैं। हो सकता है इस पर हिंदी काव्य-परम्परा का प्रभाव रहा हो जिसमें स्त्री की ओर से प्रेम का उद्‌गार किया जाता है। लेकिन बात यहीं तक सीमित नहीं रही बल्कि स्त्रियों की बोली और मुहावरे में शालीनता से गिरे हुए भावों को व्यक्त किया जाने लगा। 'जुरअत' ने इसमें पहल की थी और 'इंशा' (निधन १८१७ ईसवी) ने भी इसमें अपनी कलाकारी दिखाई थी। लेकिन इसकी चरम परिणति लखनऊ में बसे हुए 'रंगीन' देहलवी (निधन १८३४ ईसवी) और लखनऊ के 'जान' साहब के कृतित्व में हुई और यह एक कला बन गई।

दिल्ली और लखनऊ में भाषा के स्तर पर भी कुछ न कुछ विभेद होना स्वाभाविक था। दिल्ली में उर्दू बोलचाल की भाषा से युक्त थी और उसका विकास भी इसी आधार पर हुआ था। लखनऊ दिल्ली की भाँति पश्चिमी भारत के क्षेत्र में नहीं था। वह पूर्वी देश था जहाँ अवधी बोली जाती थी। वहाँ दरबार के प्रभाववश उर्दू का प्रचलन हुआ। यदि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में दोनों एक ही सत्ता के अधीन न होते और आवागमन

---

१. गज़ल के रूप में वह शायरी जिसमें अश्लीलता हो २. स्त्रियों की भाषा में लिखी गई शायरी।

की सुगमता के कारण बीच की दूरी कम न होती तो बहुत सम्भव है कि दिल्ली और लखनऊ की भाषा के बीच और अधिक अंतर दिखाई देता। कदाचित् यही कारण था कि दिल्ली में भाषा-सुधार का जो आंदोलन शुरू हुआ था, लखनऊ में उसकी ओर अधिक ध्यान दिया गया और भाषा की सतही परत को तोड़ा गया बल्कि यों कहिए कि शायराना भाषा के निर्माण पर बल दिया गया। यही कारण है कि आम हिंदी और हिंदुस्तानी के सरल और कोमल शब्दों का जितना उन्मुक्त प्रयोग 'मीर' की शायरी में मिलता है, उतना लखनऊ की ग़ज़ल में प्राप्त नहीं होता।

और यही कारण है कि परिवेशगत भिन्नता के कारण अंतर्वस्तु के स्तर पर लखनऊ मे पारलौकिक तसव्वुफ़ और गहन मानवीय भावो से युक्त गंभीर शायरी के बजाय मुआमलाबंदी और मनोरंजन प्रधान शायरी नज़र आती है तो दूसरी ओर सरल अभिव्यक्ति के बजाय भाषा-शैली में सायासता एव आलंकारिकता दृष्टिगत होती है। व्याकरण के नियमों के प्रति अतिशय लगाव भी दिखाई देता है। कुछ यह भी है कि आमतौर पर लखनवी ग़ज़ल गो उन्हीं काव्य-विषयों को अपनाते थे जिनका प्रयोग उनके पूर्ववर्ती शायरों ने किया होता था। इसलिए इनमें पुराने विषयों में नवीनता पैदा करने की भावना भी सक्रिय रहती होगी। यही कारण है कि वहाँ के शायरो ने अपना कला कौशल दिखाने में भाषा की तराश-खराश और हर सम्भव क़ाफ़िए को खपाने और मुश्किल ज़मीनें अपनाने पर भी नज़र रखी। इसके परिणामस्वरूप प्रभावोत्पदकता कम होती गई। भावों को समृद्ध बनाने के साथ-साथ शे'र को भाषा-शिल्प की दृष्टि से संवारने पर इतना ज़ोर दिया जाने लगा कि 'नासिख़' ही के यहाँ, जो कि लखनऊ के पहले बाक़ायदा शायरों में थे, आंतरिक अनुभूतियाँ एकदम अप्राप्य तो नहीं है लेकिन गौण अवश्य हो गई हैं। और इस प्रकार आलंकारिकता, मुहावराबंदी और चुस्त बंदिशें शायरी के मुख्य प्रतिमान बन गये। शब्द-प्रयोग के प्रति इतनी सजगता बढ़ी कि बात शब्द-लाघव तक पहुँच गई। ग़ज़ल ही नहीं इस कलावाद का प्रभाव गद्य में भी दिखाई देता है। गद्य में अनुप्रासात्मकता इसी कलावाद के कारण आई। इसका प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के दिल्ली के दास्तान-निगारों पर भी पड़ा।

ग़ज़ल की भाषा के सिलसिले में ही एक बात और। लखनऊ में औरंगज़ेब युगीन मदरसा फिरंगी महल्ल और आसफ़ुद्दौला युगीन दीनी मदरसों की स्थापना से धार्मिक विधाओं तथा गाज़ीउद्दीन हैदर के युग से अन्य विधाओं प्रति रुचि पैदा होने के कारण ज्योतिष, दर्शन, वैद्यक और साहित्य के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई थी। और आम बोल-चाल

की भाषा में भी अरबी-फ़ारसी शब्दों के प्रयोग का रिवाज चल पड़ा था। शायद यही कारण है कि ग़ज़ल में भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों का अधिक व्यवहार किया जाने लगा। मुग़लों के अंतिम दौर में दिल्ली में भी मदरसे थे। मसलन मदरसा रहीमिया, खानुम के बाज़ार का मदरसा और अजमेरी दरवाज़े का मदरसा जहाँ आध्यात्मिक शिक्षा पर बल दिया जाता था। शाह अब्दुल अज़ीज़ का मदरसा तो सारी इस्लामी दुनिया में मशहूर था। लेकिन जैसा कि पहले भी कहा गया है कि दिल्ली उर्दू की जन्मभूमि थी, वहीं के लोगों के बीच यही पली-बढ़ी थी और वहाँ के आम बोल-चाल में अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रचलन नहीं था। फिर भी इस बात में संदेह नहीं कि जिन शब्दों को लखनऊ की शायरी में त्याज्य समझा जाने लगा, बाद में वे शब्द दिल्ली की शायरी की भाषा से भी बाहर कर दिये गये और 'नासिख़' की फ़ारसी युक्त लखनवी उर्दू का प्रभाव दिल्ली में ग़ालिब' पर भी पड़ा। बीसवीं शताब्दी तक आते-आते आवागमन की सुगमता के कारण लखनऊ और दिल्ली और समीप आ गये। तो हर तरफ़ एक जैसी शायरी की भाषा का व्यवहार होने लगा।

संक्षेप में, लखनऊ की दरबारदारी के वातावरण में दो बातें बुनियादी महत्त्व रखती थीं और इन बातों ने वहाँ की शायरी को स्पष्ट रूप से प्रभावित किया। एक, विशेष धार्मिक प्रवृत्ति और दूसरे, विलासप्रियता। इस विशेष धार्मिक रुझान ने मर्सिए को कहीं का कहीं पहुँचा दिया। विलासप्रियता के कारण बाज़ार की भाषा के प्रति दिलचस्पी आम हुई। ग़ज़ल की पारम्परिक शृंगारिक शायरी में हृदय के उदात्त भावों के बजाय वासना और मदिरा-प्रेम की चमक-दमक और शे'र के शिल्पपक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा इसके साथ ही भाव-सम्पदा के बजाय चुस्त बंदिशें और अलंकार काव्य के मुख्य प्रतिमान बन गये। शे'रों में अलंकारों के प्रयोग की झलक दिल्ली के शायरों के कृतित्व में भी मिलती है। लेकिन वहाँ विषय-वस्तु की प्रमुखता दिखाई देती थी। ध्यान देने पर अलंकारों की परत खुलती थी। लखनऊ में स्थिति इसके ठीक विपरीत थी।

यह था वह सांस्कृतिक वातावरण जिसमें ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' ने आँख खोली। यही थी वह शायरी और भाषा की परम्परा और उसमें घटित होता हुआ वह परिवर्तन जिसमें एक शायर के रूप में स्वयं 'आतिश' की निजी विशिष्टता अंतर्निहित है। यह लखनऊ में उर्दू शायरी के तीसरे दौर के आरम्भ और उसकी अपनी एक स्वतंत्र और विशिष्ट पहचान बनाने का युग था।

'आतिश' की शायरी पर चर्चा करने से पहले उचित होगा कि उनकी जीवनी और वंश-परम्परा पर प्रकाश डाला जाये ।

जीवन-वृत्त

(१)

'आतिश' की वंश-परम्परा का सम्बन्ध ख़्वाजा उबैदुल्लाह अहरार से है जिनकी मृत्यु ८९५ हिजरी तदनुसार १४९० ईसवी में हुई और जो नक़्शबंदी परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थे। 'आतिश' के पूर्वज बग़दाद से दिल्ली आये और पुराने क़िले के पास बस गये। 'आतिश' के पिता ख़्वाजा अली बख़्श, नवाब शुजाउद्दौला के समय में दिल्ली से फ़ैज़ाबाद पहुँचे और महल्ला मुग़लपुरा में रहने लगे। वहीं ११९२ हिजरी तदनुसार १७७८ ईसवी में 'आतिश' का जन्म हुआ।

अल्पायु में ही पिता का साया सिर से उठ गया और 'आतिश' की शिक्षा अधूरी रह गई। बाल्य काल में ही उन्हें शायरी का शौक़ हुआ और मुशायरों में हिस्सा लेने लगे। शुरू में उनकी रुचि उर्दू की अपेक्षा फ़ारसी शे'र गोई में अधिक थी।

एक तो बाप का साया सिर पर न रहा था, दूसरे पढ़ाई छूट गई थी, तीसरे उस ज़माने के फ़ैज़ाबाद में सिपहगिरी और बांकपन का ज़ोर था। परिणाम यह हुआ कि 'आतिश' भी इनकी ओर आकर्षित हुए। मुग़लबच्चों की सुहबत में तलवार बाज़ी अच्छी आ गई। बात-बात पर तलवार खींच लेते। जल्दी ही 'ततवरिए' मशहूर हो गये। उनकी शे'र गोई और सिपहगिरी ने फ़ैज़ाबाद ही में नवाब मुहम्मद तक़ी खाँ 'तरक़्क़ी' को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। और इस तरह बाद में उर्दू शायरी में अपने होने वाले प्रतिद्वंद्वी शेख़ इमाम बख़्श 'नासिख़' की भाँति उन्होंने भी नवाब साहब की नौकरी कर ली। जब नवाब साहब, गाज़ी उद्दीन हैदर के युग में फ़ैज़ाबाद से लखनऊ आकर बस गये तो 'आतिश' भी लखनऊ आ गये।

लखनऊ को १७७४-७५ ई. में ही आसफ़ुद्दौला अपना मुख्यालय बना चुके थे जिसका ज़िक्र पहले हो चुका है। लखनऊ में शे'रो शायरी का ज़ोर था। दिल्ली से नये-नये आये हुए शायर 'मुसहफ़ी', 'इंशा', 'जुरअत' लखनऊ के माहौल से प्रभावित होकर एक नया रंग जमा रहे थे। दरबार के संरक्षण में 'इंशा' और 'मुसहफ़ी' की साहित्यिक नोंक-झोंक जारी थी। 'आतिश' ने शायरी में 'मुसहफ़ी' की दर्दमंदी की अपेक्षा भाषा सौंदर्य से प्रभाव

ग्रहण किया और उन्हीं के शागिर्द हो गये। 'मुसहफ़ी' ने भी होनहार शागिर्द का उत्साहवर्धन किया और यह भविष्यवाणी की कि अगर उम्र ने साथ दिया और उनकी ऐसी ही अभिरुचि बनी रही तो 'आतिश' अपने युग में अद्वितीय होंगे और वाक़ई ऐसा ही हुआ। शिक्षा की अच्छी पृष्ट-भूमि न होने का कारण 'आतिश' ने अपनी साधना और सुरुचिपूर्ण प्रकृति के कारण विशेष दक्षता प्राप्त कर ली। किस आत्मविश्वास के साथ यह कहा है :

सालहा साल से तहसील-ए-सुख़न[१] है 'आतिश'
इस क़लम रौ में है मुद्दत से इजारा अपना

यही नहीं काव्य-रचना के प्रति ऐसी निष्ठा थी :

दम फ़ना होवे तो मुमकिन है सुख़नगोई का तर्क[२]
आब-ए-दरिया ख़ुश्क हो जावे न हो नायाब मौज

इसमें संदेह नहीं कि परिश्रम और साधना के साथ-साथ उनका मस्तिष्क बहुत सर्जनात्मक था और उनमें एक आशु कवि की प्रतिभा थी। एक घटना से इसकी पुष्टि होती है। कहते हैं कि एक वज़ीर-ए-सल्तनत मौतमदुद्दौला उर्फ़ आग़ा मीर ने अपने नये मकान में मुशायरा आयोजित किया और आयोजन के दौरान ही मिसरा तरह[३] 'आतिश' को भेज कर तलब किया। यह एक तरह की आज़माइश थी। 'आतिश' ने परिस्थिति की नज़ाकत को महसूस किया। गैरत का तकाज़ा हुआ, गये और अवसर के अनुरूप वहीं यह मत्ला[४] कहा :

ये किस रश्क-ए-मसीहा का मकाँ है
ज़मीं याँ की चहारम आस्माँ है

'मसीहा' के साथ 'चहारम आस्माँ' और 'जमीन' से 'आस्माँ' की संगति और अवसरानुकूल होने के कारण 'आतिश' को ख़ूब दाद मिली।

यहाँ यह कह देना ज़रूरी है कि शिक्षा अधूरी रह जाने से यह अभिप्राय नहीं कि वे अल्पज्ञ थे। वे विधिवत् शिक्षा प्राप्त न कर सके लेकिन श्रेष्ठ पुस्तकों का स्वाध्याय करते रहे और ज्ञानवर्धन करते रहे। अरबी भी पढ़ी लेकिन फ़ारसी से ज़्यादा रुचि थी। उनकी शायरी में ज्योतिष और सुलेख-कला के पारिभाषिक शब्द तथा एकाध जगह नक्षत्र-विज्ञान की किसी प्रसिद्ध पुस्तक के संदर्भ से ज्ञात होता है कि वे उन विद्याओं से परिचित थे जो

---

१. रचना के सम्प्रेषण में सक्रिय २. रचना से मुक्ति ३. वह मिसरा जो शायरों को नमूने के लिए दिया जाता है और सभी शायर इस मिसरे की ज़मीन पर ग़ज़लें कहते है ४. ग़ज़ल का पहला शे'र ।

उनके समय में विद्यमान न थीं। यहाँ ऐसे शे'र उध्दृत करने से अनावश्यक विस्तार होगा जिनमें मिर्रीख़[१], मुश्तरी[२] बुर्ज-ए-दलव[३] और बुर्ज-ए-मीज़ान[४] जैसे प्रयोग आये हैं। फिर भी 'आतिश' की शायरी में अशराक़ी और अफ़लातून के प्रतीकों पर नज़र डालते चलिए:

आबजूएँ[५] हैं सफ़ा से सीना-ए-अशराक़ियाँ[६]
हर गुल-ए-खुशबू है अफ़लातून-ए-यूनान-ए-बहार

'आतिश' के ज्ञान और विस्तृत अध्ययन के बारे में एक बात ध्यान में रखना चाहिए। विभिन्न समकालीनों के साथ तरही गज़लों के अलावा उनके यहाँ 'दर्द' और 'सौदा' की ज़मीनों में भी ग़ज़लें भी मौजूद हैं। 'मीर' को वे भी उस्ताद स्वीकार करते हैं। फ़ारसी शायरों में 'साइब'[७] का और 'सादी' की 'गुलिस्ताँ' का नाम उनके यहाँ मौजूद है। वृत्तांतों से मालमू होता है कि अपने कृतित्व पर आपत्तियों के उत्तर में वे प्रमाणस्वरूप फ़ारसी शायरों का कलाम पेश करते थे।

ऐतिहासिक व्यक्तियों तथा घटनाओं के संदर्भों से भी उनके सुपठ होने का पता चलता है। शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ, जुलेखा, यूसुफ, याकूब, मूसा, फ़िरऔन[८], तूर, ईसा व मंसूर, इब्राहीम व नुम्रूद[९], सुलेमान व बिल्क़ीस, हुदहुद[१०], अन्क़ा[११], हुमा तो परम्परागत काव्य-रूढ़ियाँ हैं ही लेकिन क़ौम-ए-आद[१२], दाऊद, अबू लहब, दज्जाल[१३], महदी, अय्यूब, इब्राहीम, अदहम[१४] की ओर भी 'आतिश' की ग़ज़ल में संकेत मिलते हैं।

इसी रुझान के प्रभाव के कारण शायद उन्होंने अरबी के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है जिसका उल्लेख हमने लखनऊ के सांस्कृतिक वातावरण के संदर्भ में किया है। नमूने के तौर पर ये शे'र द्रष्टव्य हैं :

जानिब-ए-चर्ख़[१५] मुक़व्वस[१६] आह होती है रवाँ
ये कमां एक दिन निशाना है हमारे तीर का
फ़ायख़[१७] हो ग़ज़ब पर करम उस बुत का इलाही

---

१. एक सितारा २. एक सितारा ३. कुंभराशि, ग्यारहवाँ सूरज ४. तुला राशि, सातवाँ सूरज ५. नदी, झरने ६. प्रकाशित होना, सूर्योदय ७. फ़ारसी का एक प्रसिद्ध शायर ८. मिस्र का शासक जो बड़ा अत्याचारी था और जो हज़रत मूसा के शाप से मरा था ९. एक अत्याचारी शासक जिसने खुदाई का दावा किया था और हजरत इब्राहीम को आग में डलवाया था १०. एक पक्षी जिसके सिर पर कलगी होती है ११. एक कल्पित साहित्यिक पक्षी १२. हज़रत 'हू' की कौम १३. एक शैतानी फ़रिश्ता १४. काला घोड़ा, काला सर्प १५. आकाश की ओर १६. धनुष की भाँति टेढ़ी चीज १७. वृद्ध, गरिमामय

इजलस वो दिल आराम कहे क़ुम[१] से ज़्यादा
इक मुश्त अस्तुख़्वाँ[२] पे न इतना ग़रूर कर
क़ब्रें भरी हुई हैं अज़ाम-ए-रमीम[३] से
एक दिन दावत-ए-जम्माज़ा[४] लैला होगी
इसलिए बीच में मजनूँ है ये, हर सू[५] काँटे

इसी सिलसिले में कई ऐसे शब्द भी आते हैं, 'आतिश' ने जिनका प्रयोग प्रचलित अर्थ से हटकर शब्द कोशीय अर्थ में किया है :

बहार आई है, हंगाम-ए-जुनूँ है कपड़े फटते हैं
मुसलसल हूँ मैं दीवाना, दर-ए-जिंदाँ मुक़फ़्फ़ल[६] है
ख़िलअत-ए-शाही[७] नहीं ऐ बुलहवस[८] तशरीफ़-ए-इश्क़
जिसने पहना इसको, ये ख़ामा[९] कफ़न हो जायेगा

लेकिन दुरूह अरबी-फ़ारसी शब्द या प्रचलित अर्थ से हटकर शब्दकोशीय अर्थ में शब्दों का प्रयोग या कहीं-कहीं अरबी फ़िक़रों को शे'र का हिस्सा बनाना 'आतिश' की काव्य-भाषा का मूल लक्षण नहीं है। कुल मिलाकर उनकी भाषा ऐसे दोषों से मुक्त है।

'आतिश' के व्यक्तित्व के सिलसिले में यह अनुचित न होगा यदि यहीं उनकी भाषा के एक अन्य पक्ष पर भी बात कर ली जाये। 'आतिश' अपनी ग़ज़ल में ऐसे चलताऊ शब्दों का व्यवहार कर जाते हैं जिन्हें आम तौर से शायरी की भाषा, विशेष रूप से ग़ज़ल में वर्जित माना जाता रहा था। कुछ शे'र देखिए :

अबस[१०] करता है वाइज़ मेरे आगे ज़िक्र हूरों का
सुनी मैंने बहुत तिरिया चरत्तर की कहानी है
दो आँखें चेहरे पर नहीं तेरे फ़क़ीर के
दो ठीकरे हैं भीख के दीदार के लिए
उस बादशाह-ए-हुस्न की मंज़िल में चाहिए
बाल-ए-हुमा[११] की परछती दीवार के लिए
इतनी शिकारगाह-ए-जहाँ में है आरज़ू
हम सामने हों और तुम्हारी रफ़ल[१२] चले

---

१. 'उठ बैठ,' 'खड़ा हो जा', वे शब्द हैं जिनसे हजरत ईसा मृत को जीवित करते थे २. हड्डी ३. वृद्ध और पुराने लोग ४. ऊंटनी, सांडनी ५. ओर ६. जिस पर ताला लगा हो ७. शाही पोशाक ८. लोलुप ९. लेखनी १०. व्यर्थ ११. एक प्रसिद्ध पक्षी का पंख १२. रायफ़ल

सहरा को भी न पाया बग़ज़्-ओ-हसद[1] से ख़ाली
साखू[2] जला है क्या-क्या फूला जो ढाक बन में
पसीने को आतिश-ए-शैदा[3] के गाती[4] बांध कर
दिलरुबाई ख़त्म की उस जान-ए-जाँ ने गात में
चप्पी शब-ए-विसाल[5] सहर तक किया किये
पा-ए-हबीब[6] के रहे ख़िदमत गुज़ार हाथ
मस्ती से जिन लबों की ताल्लुक़ जिन्हों को है
थूँकें कभी न सौसन[7]-ए-आज़ाद की तरफ़
रोज़-ओ-शब चर्ख़[8] हिंडोले की तरह हिलता है
किस तरह से न ज़माना तहो-बाला हो जाये

ये शे'र उच्चकोटि की शायरी का नमूना नहीं हैं। बल्कि ज़ाहिर है चाहे विषय नये हैं या पुराने, शिथिल हों या चुस्त, अनेक स्थलों पर ऐसे असंगत शब्दों से तिक्तता पैदा हो ही जाती है। लेकिन इससे यह पता तो चलता ही है कि 'आतिश' आम बोलचाल की भाषा से परिचित थे और उसके महत्त्व को बहरहाल समझते थे। कई शब्दों के प्रचलित उच्चारण से पता चलता है कि वे अरबी, फ़ारसी और तुर्की के शब्दों का उर्दूकरण करने के पक्षधर थे। एक शे'र देखिए :

दुख़्तर-ए-रज़[9] मेरी मूनिस[10] है मेरी हमदम है
मैं जहाँगीर हूँ वो नूरजहाँ बेगम है

इस शे'र में 'बेगम' के शब्द के उच्चारण पर आपत्ति की गई और कहा गया कि यह तुर्की शब्द है और भाषाविद् 'गाफ़' पर 'पेश' बोलते हैं, फ़ारसी भाषा के व्याकरण की दृष्टि से भी यही शुद्ध है। तो 'आतिश' ने उत्तर दिया कि "हम तुर्की नहीं बोलते। जब तुर्की बोलेंगे तो 'बेगुम' कहेंगे।"

यही नहीं प्रेमिका के केश-जाल को ठग की फांसी के रूप में देखना, प्रेम में शहीद हुए लोगों की भस्म को गुलाल की तरह उड़ाना या उससे होली खेलना, तालाब में खिले हुए कमलों से आँखों की उपमा देना ऐसी बाते हैं जिनसे एक ओर भारतीयता झलकती है और दूसरी ओर यह अनुमान होता है कि 'आतिश' एकांतीवासी होते हुए भी सिर्फ़

---

१. घृणा ओर द्वेष २. एक वृक्ष ३. प्रेमी ४. गात्र, शरीर ५. मिलन की रात ६. प्रेमी के पैर ७. एक नीला फूल जिसकी पंखुड़ी जीभ जैसी होती है ८. आकाश ९. अंगूर की बेटी अर्थात् शराब १०. मित्र, दोस्त

विशिष्ट वर्ग के लोगों तक सीमित नहीं थे। हमने यथोचित स्थान पर ऐसे बहुत से शे'र उद्धृत किये हैं। और इसी से यह अनुमान होता है कि और दूसरी काव्य-विधाओं के अलावा उर्दू ग़ज़ल भारत में कोई अजनबी की आवाज़ नहीं है। चाहे वे उपमाएँ हो या प्रतीक अथवा ऐतिहासिक अंतर्कथाएँ हो – ये सब हमारे देश की उस गंगा-जमनी संस्कृति का प्रतिबिम्ब है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

बहरहाल, लखनऊ में आये 'आतिश' को अभी ज़्यादा दिन नहीं गुज़रे थे कि नवाब मुहम्मद तक़ी ख़ाँ का स्वर्गवास हो गया। 'नासिख़' ने एक अन्य नवाब साहब के यहाँ नौकरी कर ली लेकिन 'आतिश' ने किसी दूसरे के यहाँ नौकरी करना उचित नहीं समझा। जो राशि लखनऊ के बादशाह से प्राप्त होती थी, उसमें से कुछ घर में देते, बाक़ी ग़रीबों और ज़रूरतमंद लोगों को खिला-पिला कर महीने से पहले ही मुक्ति पा लेते। इसलिए ज़्यादातर भगवान भरोसे ही गुज़ारा चलता।

'आतिश' ने प्रेम किया था या नहीं, इसके बारे में पूरे विश्वास के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। ग़ज़ल के एक पारम्परिक काव्य-विधा होने के कारण उसके शे'रों के आधार पर शायर के जीवन के किसी एक पहलू को सीधे-सीधे समझना मुश्किल भी है और खतरनाक भी। विशेष रूप में उस स्थिति में जब कि अन्य स्रोतों से इसकी पुष्टि न होती हो। लेकिन 'आतिश' की शायरी से यह अनुमान ज़रूर होता है कि वे प्रेम की अनुभूति से अनभिज्ञ नहीं थे और शायद उन्हें कभी वियोग का दुःख नहीं झेलना पड़ा था।

'आतिश' को दरबार की राजनीति और शहर के हंगामों से ज़्यादा लगाव नहीं था। फिर भी शहर के धनी-निर्धन और साहित्यकार और साहित्य-प्रेमी सभी उनका सम्मान करते थे। शार्गिद या शहर के अमीरों में से कोई कुछ भी उन्हें ससम्मान देता, उसे स्वीकार कर लेते। इसे आप उनकी ठसक कहिए कि फ़ाक़ामस्ती के बावजूद एक घोड़ा भी ज़रूर बंधा रहता।

शागिर्दों को धनाभाव का पता चलता तो मदद को हाज़िर हो जाते। कहते कि "आप हमको अपना नहीं समझते कि अपने कष्ट की सूचना तक नहीं देते ?" 'आतिश' जवाब देते, "तुम लोगों ने खिला-खिलाकर हमारी इंद्रियों को लालची बना दिया है।"

ईश्वर में आस्था एवं भाग्यतुष्टि के कारण ही उन्होंने कभी यश-प्रतिष्ठा की आकांक्षा नहीं की, न अमीरों के दरबारों में जाकर ग़ज़लें सुनाईं, न उनकी प्रशंसा में क़सीदे लिखे। बादशाह मुहम्मद अली शाह ने बुलवाया। मगर न गये। एक टूटे-फूटे मकान में जिस

पर कुछ छत कुछ छप्पर साया किये, बोरिया बिछा रहता। उसी पर एक लुंगी बांधे धैर्य और संतोष से बैठे रहे और अपने चंद रोज़ के जीवन को इस तरह बिता दिया जैसे कोई उदासीन और अनासक्त फ़क़ीर तकिए में बैठा हो। कोई खाते-पीते वर्ग का आदमी या कोई ग़रीब आता तो ध्यान देकर बातें भी कर लेते। अमीर आता तो सलाम करके खड़ा रहता कि आप फ़रमायें तो बैठे। यह कहते, "हूँ, क्यों साहब, बोरिए को देखते हो, कपड़े खराब हो जायेंगे। यह फ़क़ीर का तकिया है, यहाँ मसनद कहाँ ?"

ईश्वर में आस्था, आत्मस्वाभिमान और लज्जा उनकी प्रकृति के अभिन्न अंग थे। यश-प्रतिष्ठा के प्रति उनकी उदासीनता और आत्म-संतोष के भाव को इन शे'रों में देखियेः

मिस्ल-ए-शबनम हूँ साफ़ दिल क़ानअ्[1]
मुझको दरिया है बूँद पानी की
न मतलब किश्त[2] से रक्खे न ख़िर्मन[3] से गरज़ 'आतिश'
समझ ले अपने मुँह में मोर[4] जो क़िस्मत का दाना है
मुक़द्दर में अगर है मेवा चखना
मिलेगी झुक के 'आतिश' बारवर[5] शाख़

इसी प्रकार यह शे'र देखिए :

तोड़ता पाँव को जो तख़्त की ख़्वाहिश करते
काटता सिर को अगर माइल-ए-अफ़सर[6] होता
दस्त-ए-हाजत को किया तेग़-ए-क़नाअत[7] ने क़लम
गंज-ए-क़ारूँ[8] से ख़ुदा ने दी बड़ी दौलत मुझे
छोड़कर हमने अमीरी की फ़क़ीरी अख़्तियार
बोरिए पर बैठे हैं क़ालीं को ठोकर मारकर

यही नहीं बल्कि शे'रों से तो यह भी स्पष्ट होता है कि आत्म-संतोष और स्वाभिमान उन्हें दुआ माँगने की इजाज़त भी नहीं देते :

भीख से बदतर दुआ भी माँगना इन्साँ को है
हाथ आये बेतलब नान-ए-जवीं गर ख़ुश्क हो

और एक जगह ख़ास बांकपन के लहजे में फ़क़ीरी की तुलना में सुल्तानी को दुत्कार देते हैं :

---

१. धैर्यशील २. खेत ३. खलिहान ४. चींटी ५. फलों से लदी हुई डाली ६. अफ़सर के पद का इच्छुक ७. धैर्य की तलवार ८. क़ारून का ख़ज़ाना

न कीजो सर-ए-'आतिश' पे अपना साया हुमा[१]
फ़क़ीर के है बदन पर क़बा-ए-सुल्ताँ[२] तंग

'आतिश' के ईश्वर पर भरोसे और आत्म-संतोष को लेकर एक प्रसंग एक मिलता है जिससे उनकी भोली-भाली विनोद प्रियता का पता चलता है। उनके एक शागिर्द अक्सर बेरोज़गारी की शिकायत से कहीं अन्यत्र जाने की इच्छा प्रकट करते रहते थे और ख़्वाजा साहब कहा करते थे, "मियां कहाँ जाओगे। दो घड़ी मिल-बैठने को गनीमत समझो, और जो ख़ुदा देता है उस पर सब्र करो।" एक दिन वे आये और कहा,

"हज़रत रुख़्सत को आया हूँ।"

फ़रमाया, "ख़ैर बाशद[३]" कहाँ ?

उन्होंने कहा, "कल बनारस को रवाना होऊँगा। कुछ फ़रमायश हो तो फ़रमा दीजिए।"

'आतिश' हँसकर बोले, "इतना काम करना कि वहाँ के ख़ुदा को ज़रा हमारा भी सलाम कह देना !"

वे हैरान होकर बोले, "हज़रत, यहाँ और वहाँ का ख़ुदा कोई जुदा है ?"

फ़रमाया, "शायद यहाँ का ख़ुदा कंजूस है, वहाँ कुछ सख़ी[४] हो।"

उन्होंने कहा, "माज़ा अल्लाह, आपके फ़रमाने की यह बात है !"

ख़्वाजा साहब ने कहा, "भला सुनो तो सही जब ख़ुदा वहाँ-यहाँ एक ही है तो हमें क्यों छोड़ते हो ? जिस तरह उससे वहाँ जाकर माँगेगे उसी तरह यहाँ भी माँगो। जो वहाँ देगा तो यहाँ भी देगा।" इस बात का उनके मन पर इतना प्रभाव पड़ा कि यात्रा का का इरादा ही बदल दिया और निश्चिंत होकर बैठ गये।

'आतिश' जवानी में गठीले, गोरे-चिट्टे, छरहरे बदन के ख़ूबसूरत और आकर्षक व्यक्ति थे। कहीं यह उल्लेख भी मिलता है कि वे अफ़सर-ए-रिसालदारान भी रहे थे। शायद इसी कारण वे किसी समय सिपाहियाना सज-धज से रहते। बांकों की तरह बुढ़ापे तक तलवार बांधकर यही शान क़ायम रखी। सम्भव है, कभी भौंहों का सफ़ाया भी कराया हो। उन्हीं का शे'र है :

एक अलिफ़ के क़द के सौदे में हुआ 'आतिश' फ़क़ीर
चार अबरू को सफ़ा करके क़लंदर हो गया

---

१. एक प्रसिद्ध पक्षी २. सुल्तान का परिधान ३. ख़ैर तो है ४. उदार और दानशील

कभी सिर पर एक ज़ुल्फ़ और कभी हैदरी चुटिया रख लेते थे जो कहते हैं कि मुहम्मद शाही बाँकों की धज में शामिल थी। उसी में एक तुर्रा सब्ज़ी का भी लगाये रहते। भौंह पर एक बाँकी टोपी धरी रहती। गेरूआ तहबंद, हाथ में डंडा, पाँव में सच्चे काम का सलीमशाही एक अशर्फ़ी का जूता गरज़ इसी बाँकी धज से स्वच्छंद घूमते। डंडे में एक सौने का छल्ला लगा रहता। जब दो-तीन दिन का फ़ाक़ा हो जाता तो छल्ला गिरवी रखकर रोटी-पानी का प्रबंध कर लेते।

बुढ़ापे में दाढ़ी बढ़ी ली थी और उस पर मेंहदी का खिज़ाब भी लगा लेते थे। भंग पीने का चस्का था। हुक्का सामने धरा रहता। इसके अलावा घी में तली मिर्चों से भी शौक़ फ़रमाते थे।

कबूतरों का शौक़ भी था। जिस कोठरी में रहते थे उसमें एक झलंगा पलंग बिछा रहता और बोरिए का फ़र्श होता, दीवार में कबूतरों के ख़ाने। जब वे वहाँ आकर बैठते तो कबूतर उड़-उड़ कर सिर और गर्दन पर आ बैठते और वे ख़ुश होते।

अंतिम दिनों में आँखों की ज्योति जाती रही थी। मआली ख़ाँ की सराय के मकान में रिहायश थी। अंततः इसी धैर्य और आत्म-संतोष के साथ २५ मुहर्रम १२६३ हिजरी तदनुसार १३ जनवरी १८४७ ईसवी की सुबह के वक़्त भले-चंगे बैठे थे। यकायक मृत्यु का ऐसा झोंका आया कि दीपक की लौ की भाँति बुझकर रह गये। इस तरह उन्होंने ७१ वर्ष की आयु पाई। मीर अली औसत 'रश्क' ने तारीख़ कही :

ख़्वाजा हैदर अली ए वाए मुर्दंद[१]

जब उनका निधन हुआ, उनकी सुसंस्कृत पत्नी जीवित थीं। जिनके कारण 'आतिश' भुखमरी से बचे रहते। उनके एक मुहम्मद अली 'जोश' नाम का बेटा था। बाप के निधन के एक वर्ष बाद १२६४ हिजरी में हैज़े की बीमारी के कारण युवावस्था में ही उसकी मृत्यु हो गई।

'आतिश' के शागिर्दों की संख्या बहुत है। मस्नवीनिगार नवाब मिर्ज़ा 'शौक़' और पंडित दयाशंकर 'नसीम', जिनका उर्दू शायरी में विशिष्ट स्थान है, 'आतिश' के ही शागिर्द थे। इनके अलावा नवाब वाजिद अली शाह 'अख़्तर', मीर दोस्त अली 'ख़लील', आग़ा हिजू 'शर्फ़', मीर वज़ीर अली 'सबा' और नवाब सैयद मुहम्मद ख़ाँ, 'रिंद' भी 'आतिश' ही के शागिर्द थे। एक वृत्तांत के अनुसार नवाब सैयद मुहम्मद ख़ाँ 'रिंद' ने ही उनकी किशोरी बेटी और वृद्धा पत्नी की देख-भाल का दायित्व निभाया।

---

१. ख़्वाजा हैदर अली आतिश नहीं रहे ।

कहते हैं कि 'आतिश' की शायरी का संग्रह उनके जीवन-काल में ही १२५६ हिजरी तदनुसार १८४० ईसवीं में मतबा अल्वी लखनऊ से प्रकाशित हो गया था। पहला दीवान (मतबा अल्वी, लखनऊ १२६० हिजरी, पृष्ठ संख्या २५१) और दूसरा दीवान (मतबा हाजी वली मुहम्मद, लखनऊ १२६१ हिजरी पृष्ठ २५१ से ३०६) दोनों एक स्थान पर 'कुल्लियात-ए-आतिश' के नाम से प्रकाशित हुए। जिसमें पहले दीवान के मूल-पाठ से स्पष्ट होता है कि स्वयं 'आतिश' ने इसे संशोधित किया था। इसके बाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से इसके अनेक संसकरण प्रकाशित होते रहे। १९६३ ई. में 'आतिश' के दोनों दीवानों की गज़लों को रदीफ़वार व्यवस्थित करके 'कुल्लात-ए-आतिश' के नाम से मजलिस तरक़्क़ी-ए-अदब, लाहौर ने दो भागों में प्रकाशित किया। इसमें 'आतिश' का 'वासोख़्त'[1] और इधर-उधर बिखरे हुए शे'र भी शामिल कर दिये गये हैं और कुछ पांडुलिपियों के पाठांतर का उल्लेख भी किया गया है।

(२)

'आतिश' के पूर्वजों में सूफ़ी होने की परम्परा मौजूद थी लेकिन उन्होंने पीरी-मुर्शदी का मार्ग नहीं अपनाया। न कभी अपनी नस्ल पर घमंड किया। वे धर्म से अवश्य जुड़े रहे। उनकी शायरी में उनकी धार्मिक आस्था जगह-जगह प्रतिलक्षित होती है। और कई गज़लों में ऐसे शे'र भी मौजूद हैं जिनका विषय अली की प्रशंसा है। हज़रत अली की तलवार, ज़ुल्फ़िक़ार का नाम भी उनके बहुत से शे'रों में आ जाता है, जैसे :

मोमिन का मददगार है शाह-ए-नजफ़[2] ऐ दिल
आशिक़-ए-शैदा अली-ए-मुर्तज़ा का हो गया

कुछ ग़ज़लें तो पूरी-की-पूरी मन्क़बत[3] में ही हैं। एक रिवायत के अनुसार उन्होंने हज़रत अली की शान में क़सीदे भी कहे। ना'तिया[4] शे'र भी उनके यहाँ मौजूद हैं और हम्द[5] के भी :

क्या दादख़्वाह हो कोई उसके क़तील का

यह गज़ल जिसमें क़सीदे का-सा गठन और ओजपूर्ण भाषा और साथ ही मस्नवी का सा प्रवाह है, हम्द के रंग में ही है। लेकिन इस धर्म के बावजूद 'आतिश' में कट्टरता

---

१. शायरी की एक विधा जो मुसद्दस के रूप में होती है और जिसमें प्रेमी से नाराज़ होकर प्रेम छोड़ देने का वर्णन होता है २. अरब का मशहूर शहर जहाँ हज़रत अली का मज़ार है ३. हुज़ूर की साथियों की गुणगाथा ४. हज़रत मुहम्मद साहब की स्तुति ५. ईश्वर की स्तुति, ख़ुदा की तारीफ़

नहीं थी। वे प्रसन्नचित्त, स्वच्छ हृदय, आस्तिक और उदारचेता व्यक्ति प्रतीत होते थे। वे धर्म की संकीर्णताओं से मुक्त एक स्वच्छंद प्रकृति के व्यक्ति मालूम पड़ते थे! उनके शागिर्दों में विभिन्न धार्मिक विश्वासों के लोग शामिल थे। यह सही है कि धार्मिक सहिष्णुता का कभी-कभी उलटा परिणाम भी निकल सकता है। जैसा कि 'आतिश' ने एक शे'र में संकेत किया है :

न तो हिंदू ही मैं ठहरा न मुसलमाँ निकला
मुझसे रखते हैं बजा[1] काफ़िर-ओ-दींदार[2] लिहाज़

लेकिन बहरहाल वे एक उदारहृदय और व्यापक धार्मिक आस्थाओं वाले व्यक्ति रहे। यही नहीं बल्कि उन्हें धार्मिक भेद-भाव से बहुत चिढ़ होती थी। उनका ही एक शे'र है :

आशना सूरत-ए हफ़्तादोदो[3] मिल्लत[4] से हूँ मैं
आइना दिल का है पहलू में बहत्तर टुकड़े

उनकी हँस-मुख प्रकृति का पता इन शे'रों से चलता है :

अपनी राहत के लिए किसको गवारा है ये रंज
घर बनाकर गर्दन-ए-मिहराब को ख़म कीजिए
गवारा याँ दिल-ए-दुश्मन की भी शिकस्त नहीं
हमारी कफ़्श[5] से मूज़ी को भी गज़ंद[6] न हो
न किसी को कड़ी कही हमने
न किसी कड़ी उठाई बात

शायराना ज़ुबान में यह बात इस तरह सामने आती है :

मिस्ल-ए-नसीम हूँ चमन-ए-रोजगार में
गुल से बनाव है न मुझे ख़ार से बिगाड़

अपने हाल में खुश रहने का यह अभिप्राय नहीं कि 'आतिश' का सोच सिर्फ़ बाहर की परिस्थितियों से उदासीनता तक सीमित था बल्कि एक ओर वे धार्मिक भेद-भाव से क्षुब्ध रहते हैं और दूसरी ओर वे हृदय की शुद्धता तथा लौकिक और पारलौकिक प्रेम के बीच सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसके साथ ही मनुष्य होने पर बल देते हैं।

कुफ़्र-ओ-इस्लाम की कुछ कै़द नहीं है 'आतिश'
शेख़ हो या कि बिरहमन हो, पर इंसा होवे

---

१. उचित २. वह जो इस्लाम में आस्था नहीं रखता तथा वह जो रखता है। ३. बहत्तर, सत्तर और दो ४. धर्म या सम्प्रदाय। ५.जूता ६. क्षुब्ध, आघात

उनके विचारों में मूल बात एकता के मार्ग को प्राप्त कर लेना है:

एक राह-ए-इत्तहाद[१] ऐ दिल ये है जो हो सके
याद में इसकी दो आलम भूल जाया चाहिए

उनके अनुसार साधक भी वह है जो हृदय के विकारों को दूर कर दे और 'यूसुफ़' को वह इसी दुनिया में देखने का प्रयास करे :

दूर कर दिल की कदूरत[२] महव[३] हो दीदार का
आईने को सीना साफ़ी ने दिखाया रू-ए-दोस्त
आरिफ़ है वो जो हुस्न का जो याँ जहाँ में है
बाहर नहीं है यूसुफ़ इसी कारवाँ में है

वे इसी हृदय की स्वच्छता के लिए ईश्वर का धन्यवाद करते हैं:

करूँ मैं शुक्र-ए-इलाही कहाँ तलक 'आतिश'
दुरून-ए-साफ़[४] दिया, पाक ऐतिक़ाद[५] दिया

हृदय की यह शुद्धता उन्हें दोनों लोकों का भ्रमण करा देती है :

दिखला रही है कि दिल की सफ़ा दो जहाँ की सैर
क्या आईना लगा हुआ अपने मकाँ में है

ईश्वर के एक होने की आस्था उन्हें सृष्टि के एकत्व की ओर प्रेरित करती है :

दीदा-ए-याकूब[६] से देखा जो आलम की तरफ़
यूसुफ़ इस बाज़ार में हर सू नज़र आया मुझे
चारों तरफ़ से सूरत-ए-जानाँ हो जलवागर
दिल साफ़ हो तेरा तो है आईनाखाना क्या

दरअस्ल आस्थाएँ उदार प्रकृति वाले लोगों को अपने आचरण में कट्टर और क्रूर नहीं बनातीं बल्कि ऊपरी भेद-भाव उनके लिए अर्थहीन हो जाते हैं और 'आतिश' के शब्दों में वे यह कह उठते हैं :

हम क्या कहें किसी से क्या है तरीक़[७] अपना
मज़हब नहीं है कोई, मिल्लत नहीं है कोई

यही नहीं बल्कि यह भी :

न जलाये न तो गाड़े कोई हमको 'आतिश'
मुर्दा अपना न पड़े काफ़िर-ओ-दींदार के हाथ

---

१. एकता का मार्ग २. हृदय का विकार, मन की अशुद्धता ३. तल्लीन, डूबा हुआ ४. स्वच्छ हृदय ५. पवित्र आस्था ६. हज़रत यूसुफ़ के पिता जो उनके वियोग में अंधे से गये थे ७. उपासना का मार्ग

स्वच्छंदता और आस्तिकता की यह प्रवृत्ति हृदय में ईश्वर का वास समझती है और परदु:ख कातरता का भाव उत्पन्न कर देती है। 'आतिश' कहते हैं :

कौने छीने बुत को, तोड़े बिरहमन के दिल को कौन
ईंट की ख़ातिर कोई काफ़िर ही मस्जिद ढायेगा

'आतिश' के ऐसे शे'रों से अनुमान होता है कि यह भाव उनके हृदय की गहराइयों से स्फूर्त हुआ है। यह कोई औपचारिकता या क्षणिक आवेग भर नहीं है। यह शे'र देखिए:

मुश्ताक़[1] जो होता हूँ काबा की ज़ियारत का
आँखें फिर ही जाती हैं तौफ़-ए-हरम-ए दिल[2] को

और इसीलिए उनके यहाँ अटल विश्वास मिलता है :

राह भूले हुए हाजी है भटकता नाहक़
काबा-ए-अल्लाह जो जाता तो सूए-दिल जाता
शौक़ अगर कूचा-ए-महबूब का रहबर होता
गाम-ए-अव्वल[3] में क़दम काबे के अंदर होता

और फिर यह शालीन भाव दृष्टिगत होता है :

बुतख़ाना खोद डालिए मस्जिद को ढाइए
दिल को न तोड़िए ये ख़ुदा का मुक़ाम है

उनकी दृष्टि की व्यापकता और हृदय की उदारता से अनुमान होता है कि ईश्वर-प्रेम अंतत: मानव-प्रेम में बदल जाता है। तब किसी के हृदय को आघात पहुँचाना तो क्या अपने शत्रु के प्रति भी हृदय में कलुष रखना पाप समान लगता है :

नाकिस[4] है दोस्तदारी में कामिल[5] नहीं है तू
दुश्मन से भी गार अगर दिल में रह गया

और फिर संपूर्ण संसार का दु:ख अपने भीतर अनुभव करने लगता है और मन में करुणा का भाव जाग्रत हो जाता है :

दर्द सर में हो किसी के तो मिरे दिल में हो दर्द
वास्ते मेरे हुआ है ग़म-ए-आलम पैदा
बुलंद ख़ाक नशीनी ने क़द्र की मेरी
उरूज[6] मुझको हुआ जबकि पायमाल[7] हुआ

---

१. इच्छुक, आकांक्षी २. दिल रूपी हरम की परिक्रमा करना, तौफ़ अर्थात् परिक्रमा करना ३.पहला कदम
४. अधूरा ५. पूर्ण ६. उत्कर्ष ७. पैरों के नीचे कुचला हुआ

सालिक को यही जादे[1] से आवाज़ आती है
पामाल जो हो राह वो मंज़िल की निकाले

इस भाव को अपेक्षाकृत भोलेपन के साथ इस शे'र में व्यक्त किया है :

गुबार-ए-रह[2] होकर चश्म-ए-मुर्दम में महल पाया
निहाल-ए-ख़ाकसारी को लगाकर हमने फल पाया

'आतिश' के व्यक्तित्व के संदर्भ में यह बात हमें याद रखनी चाहिए कि वे एकांतप्रेमी भी हैं तो पारम्परिक अर्थों में नहीं। इसके साथ ही लौकिक सत्य से विमुख नहीं होते हैं। उन्हें दुनिया की चहल-पहल पसंद है। वे बाग़ की बहार के शिद्दत से तलबगार हैं :

रहे न लाल-ओ-गुल से कोई जगह ख़ाली
बहार-ए-बाग़ से हो अर्सा-ए-गुलिस्ताँ तंग

वे काबा और दैर[3] को पारसी व मुसलमान से आबाद देखने के आकांक्षी हैं लेकिन असीम प्रेमभावना से ओतप्रोत भी देखना चाहते हैं। अर्थात् दीन और दुनिया दोनों के तलबगार हैं। साक्ष्य के तौर पर ये शे'र देखिए :

सर्व[4] अकड़ते हैं तो गुंचे हैं शगुफ़्ता[5] होते
यूँ ही रह जाये इलाही ये गुलिस्ताँ आबाद
कूचा-ए-यार में हो रोशनी अपने दम की
काबा-ओ-दैर करें गब्र[6]-ओ-मुसलमाँ आबाद
कसरत-ए-दाग़-ए-मुहब्बत से इलाही भर दे
मंजिल-ए-दिल को करें आके ये मेहमाँ आबाद

और अंततोगत्वा उनकी यह इच्छा इन शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है :

दीन-ओ दुनिया का तलबगार हनोज़[7] 'आतिश' है
ये गदा[8] सायल-ए-नक़्द-ए-दो जहाँ[9] है कि जो था

---

१. रास्ता २. रास्ते की धूल ३. बुतख़ाना, मूर्तिगृह ४. एक सीध ऊँचा बढ़ने वाला वृक्ष ५. खिलते हुए, हर्षित ६. अग्नि की पूजा करने वाले, पारसी ७. अभी तक, अब भी ८. भिक्षुक, भिखारी ९. याचक १०. इहलोक और परलोक ।

सर्जनात्मक व्यक्तित्व और शायरी

(१)

'आतिश' की जीवनी से सम्बन्धित विवरणों से ज्ञात होता है कि आत्म-स्वाभिमान उनके व्यक्तित्व का एक स्वाभाविक अंग था। उनका आरम्भिक जीवन एक प्रकार की सुविधा और निश्चिंतता में बीता इसलिए वहाँ भावुकता का असर ज़्यादा दिखाई देता है जिसकी अभिव्यक्ति उनकी शायरी में भी हुई है। उनके कृतित्व में अपनी वंश-परम्परा को लेकर उचित या अनुचित उल्लेख नहीं मिलता है। तसव्वुफ़ के प्रभाववश वे मानव जीवन के लक्ष्य पर ज़रूर विचार करते हैं। लेकिन वे अपने-आपको तसव्वुफ़ के पारम्परिक चिंतन और दर्शन तक ही सीमित नहीं रखते। इहलौकिकता को भी उनकी शायरी में समुचित स्थान मिला है जिसमें अधिकांश प्रचलित काव्य-विषयों तथा शब्दौचित्य पर आधारित शैली के अलावा साहस, उत्साह और पौरुष की झलक भी मिलती है। इसके साथ ही जिसमें खिन्नता और अभावग्रस्तता की उतनी छाया नहीं दिखाई देती। वे एकांतप्रेमी भी हैं लेकिन दुनिया से दामन नहीं बचाते। उनके व्यक्तित्व को समझने में उनका यह शे'र बहुत अर्थपूर्ण है जिसमें पारम्परिक प्रतीक का सहारा लेते हुए जीवन को समुद्र कहा गया है लेकिन लौकिक जीवन रूपी बुलबुले को क्षणस्थाई बताते हुए एक दूसरी वास्तविकता को भी उजागर किया गया है :

एक कुल्ज़ुम-ए-हस्ती[१] में हैं वो गोशानशीन[२] हम
दिन रात रहा मिस्ल-ए-हुबाब[३] अपना मकाँ बंद

वे पारम्परिक अर्थों में संसार से सुखों की अपेक्षा भी नहीं करते। इसकी वास्तविकता उन्हीं के शब्दो सुनिये :

क्या समझकर बहर-ए-हस्ती में करूँ राहत तलब
देखता हूँ रोज़-ओ-शब दरिया में हैं बेख़्वाब मौज

जैसे संसार के प्रति उनकी निस्पृहता, जिसका उल्लेख हमने पिछले पृष्ठों में किया है, एक सोची-समझी बात है। वे खिन्न और क्रुद्ध होकर संसार को भस्म कर देने का विचार भी

१. जीवन रूपी समुद्र २. एकांत प्रेमी, घर में बंद रहने वाला ३. बुलबुला

मन में नहीं लाते। अलबत्ता वे व्यंग्यात्मक लहजे में कहीं-कहीं संसार का अपमान करते दिखाई देते हैं, उसकी निस्सारता तथा आकाश से मुक़ाबिला करने की होड़ पर भी व्यंग्य कर जाते हैं। वहीं दूसरी ओर वे स्वस्थ दैहिक सम्बन्धों के आह्लाद की बात भी करते हैं।

शायर के सोच और व्यवहार में जितनी अनुरूपता होगी, उसके सृजन में भी उतनी प्रभाव-क्षमता होने की सम्भावना है। यदि उसकी करनी उसकी कथनी के अनुरूप न हो तो उसके भीतर उतनी प्रतिभा होना आवश्यक है कि वह सामाजिक परिस्थितियों से प्राप्त अपने अनुभवों को अपनी संवेदना का अंग बनाकर एक सशक्त काव्य-भाषा में प्रस्तुत कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि उसका सर्जनात्क मानस केवल निजता की सीमा में ही आबद्ध न हो, साथ ही उसका भाषा और अभिव्यक्ति पर इतना असाधारण अधिकार हो कि पाठ्क या श्रोता उसकी ओर आकर्षित हुए बिना न रह सकें। इसी प्रकार रूप और अंतर्वस्तु के बीच तादात्म्य ओर संतुलन स्थापित होता है। जहाँ तक भाषा और अभिव्यक्ति पर अधिकार का प्रश्न है तो ज़ाहिर है कि उस पर युगीन साहित्यिक अभिरुचियों का प्रभाव पड़ा और ख़ूब पड़ा।

'आतिश' की विशेषता दरअस्ल यह है कि उनकी खानदानी सूफ़ी और दरवेशी परम्परा, उनके अपने स्वाभिमान, आत्म-तोष, उदासीनता और फक्कड़पन के कारण उनके अपनाये गये काव्य-विषय आधुनिक एवं संगत प्रतीत होने लगते हैं तथा वे लखनऊ के परिवेश की स्त्रैणता और रंगीनियों से बच जाते हैं। लेकिन उनकी शायरी में हर्षोल्लास का स्वर अवश्य विद्यमान रहता है। उनकी शायरी हमें बेसुध और निश्चेष्ट नहीं बनाती। उसमें वह वेदना की गहराई नहीं है जो मन को पिघला दे। उनके यहाँ क़दम-क़दम पर बाह्य स्थितयाँ हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति के मार्ग में बाधा बन कर खड़ी हो जाती हैं। लेकिन बड़े ही अनोखे अंदाज़ में मनुष्य की श्रेष्ठता का भाव निश्चित रूप से दिखाई देता है। वही मनुष्य जिसकी जीवन की नीव कमज़ोर है और जो विधाता की सुंदरतम रचना भी है, जो अस्थिमांस का एक पिंड भी है और जो बेसुधी की अपेक्षा एक सचेत भाव से किसी परम सत्य को प्राप्त करन का आकांक्षी भी है, जिसको अपनी असहाय स्थिति का पता है लेकिन वह एक प्रकार के अहं से ग्रस्त भी है।

भाषा-शिल्प के सौंदर्य के प्रति अतिशय आग्रह तथा 'नासिख़' के भाषा-सुधार सम्बन्धी आंदोलन से प्रभावित होने के बावजूद वे शे'र की रचना में भाषा को ही सब

कुछ नहीं मानते। और इस तरह उनकी एक विशिष्ट पहचान बन जाती है – सूफ़ी शायरी में भी और शृंगारिक शायरी में भी। भले ही उनका यह रंग चाहे कम शे'रों में दिखाई दे लेकिन उसकी एक अलग पहचान है।

'आतिश' के यहाँ सिपहगिरी की मानसिकता उनके सूफ़ी स्वभाव के योग से एक प्रकार के औद्धत्य और पौरुष में परिवर्तित हो जाती है। बल्कि कहीं-कहीं उसमें आत्मोत्सर्ग के भाव का समावेश भी हो जाता है। इसीलिए ग़ज़ल जैसी पारम्परिक विधा और उसके घिसे-पिटे प्रतीकों में भी उनका सर्जनात्मक कौशल देखने योग्य है। ग़ौर करें तो यही एक ख़ास तरह का बाँकपन है। इसमें दिल को मसोस कर रख देने वाली पीड़ा और वेदना कदापि नहीं है। इसमें ऐसा व्यक्तित्व झलकता है जिसे उसकी इस त्रासदी का अहसास है कि मनुष्य यद्यपि जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ है, इहलोक और परलोक उसकी पुस्तक के दो पन्ने हैं, आकाश इस पुस्तक के मुख-पृष्ठ पर छपी इबारत है, वह ऐसा पवित्र वृक्ष है जिसका संसार रूपी उपवन में कोई सानी नहीं है फिर भी अपने जाल में फंसी हुई मकड़ी की भाँति बेबस है, वह ओस की ऐसी बूंद है जो इस धरती की एक सुंदर और कोमल रचना याने फूल की शोभा है लेकिन साथ ही सूर्य भी उसे अपनी ओर खींचने के लिए तत्पर है, वह अकेला ही रक्तरंजित खड़ा है और चारों तरफ़ सैंकड़ों ख़ंजर।

लेकिन उनका यह बाँकपन आत्म-समर्पण और आत्मविसर्जन का क़ायल नहीं है बल्कि इसमें अहं का भाव समाहित है। जिसके कारण उसे शरीर जैसा नगर, हृदय जैसा बादशाह और पाँचों इंद्रियों से अच्छा कोई रक्षक सैनिक नहीं दिखाई देता। इसमें जूझने बल्कि आत्मोत्सर्ग करने की क्षमता निहित है। इस बाँकपन में व्यक्ति एक संकुचित क़ब्र के मिट्टी-पानी में बेबसी महसूस करने के बावजूद आकाश से आगे निकल जाने की उमंग रखता है। यह बड़ी से बड़ी विपत्ति के सम्मुख खड़े रहने का साहस रखता है। विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ने पर मुँह से आह निकालने को यह ओछेपन की संज्ञा देता है। यदि वह आह निकालता भी है तो उसका उद्देश्य यह है कि वह अपने आह रूपी कोड़ों को आकाश पर बरसाकर उसे दुनिया के सामने लज्जित कर दे। वह आकाश के उपद्रवों को उसका बचकानापन समझता है। और उसका आग बरसाना उसके लिए महज़ एक तमाशा है। उसे विश्वास है कि मरने के बाद भी उसकी मिट्टी आकाश तक पहुँचेगी और एक नये आकाश की सृष्टि का देगी। वह बूढ़े आकाश की कमर को ठोकर से सीधा करने का साहस पैदा करता है। अभिप्राय यह है कि वह आकाश को अपने बराबर नहीं गिनता।

धरती और आकाश दोनों को वह दो तट समझता है और स्वयं को एक व्याकुल तरंग।

दरअस्ल उसके मन का संताप उसे विवश बनाये रखता है और उसकी इस व्यग्रता से धरती प्रकम्पित हो उठती है, सितारे भड़क उठते हैं और आकाश स्तब्ध रह जाता है। व्यग्रता की स्थिति में वह रेगिस्तान की ओर इसलिए निकल पड़ता है कि अब किसी लड़के के दामन में पत्थर के टुकड़े नहीं रहे। वह रेगिस्तानों में भटकता है तो एक नंगी तलवार की तरह चलना चाहता है। धूल और हवा की तरह ख़ाक छानता है, रेगिस्तानी सफ़र के उन्माद में उसकी सवारी शेर है ओर उसके हाथ में काले साँप का कोड़ा है। वह आशंकाओं से ग्रस्त नहीं है, उसमें साहस और आत्मविश्वास भी है। वह सफ़र का क़ायल है सिर्फ़ इसलिए नहीं कि मार्ग में हज़ारों छाँवदार पेड़ हैं बल्कि इससे ज़्यादा इसलिए भी कि वह अपने पैरों के नीचे काँटों की गर्दन मोड़ता जाता है। उसे न भय है, न लोभ। वह उन जड़ी-बूटियों को भी रास्ते के घास-फूस की तरह रोंदता जाता है जिन्हें वैद्य-हकीम ढूंढते फिरते हैं। अपने पैरों की गर्मी से पत्थरों को भी रूई के पहलों में बदल देने की क्षमता उसके भीतर है। देखने में वह किसी को थका हुआ लगता है जैसे उसे विश्वास है कि मंज़िल पर सबसे पहले वही पहुँचेगा। जब वह लड़ाई पर उतारू होता है तो सरे मैदान क़ातिल की कमर में हाथ डाल देता है, तलवार से उसकी आँख नहीं झपकती। वह तो तलवार के घाव को पुरुष के मुख का आभूषण समझता है। लड़ाई में उसके सामने तलवारों के मुँह फिर-फिर जाते हैं। वह आईने की ज़ंग नहीं बल्कि चमकती हुई तलवार होने की घोषणा करता है। वह पराक्रम और वीरता का भाव पैदा करता है। वह पीछा मुड़ना नहीं सिखाता। वह तूफ़ान को भी जहाज़ का रक्षक मानकर चलता है। वह मदिरापान पर आता है तो जैसे मदिरा-पात्र या पैमाने की सहनशीलता परखने के लिए क्योंकि वह जानता है कि इस संसार रूपी मदिरालय में समुद्र से भी उसके ओठ गीले नहीं हो सकते। जब लौकिक प्रेम की ओर उन्मुख होता है तो वह हृदय को प्रेम के आखेटस्थल में रखकर युद्ध की ललकार देता है। उसकी वीरता और युयुत्सा खोखली नहीं है। वह अकेला प्रेम के ऐसे भयानक मार्ग से यूसुफ़ को अकेला लेकर निकल जाता है जहाँ एक कारवाँ भी क़दम रखते हुए डरता है। इसी से वह साहस पैदा होता है कि वह अपने उद्विग्न मन से दुनिया के दुःखों का शिकार कर लेता है। वह दुःखों के ताप को भी धमकी दे सकता है। मृत्यु से उसे भय नहीं बल्कि यह तो उसका एक हथियार है।

बात शायराना डींग, झूठे अभिमान या भड़क की नहीं; इस बाँकपन में सचमुच जीवंतता और सक्रियता है। मालूम होता है कि सांस्कृतिक वातावरण के संदर्भ में उस युग

के जिन बाँकों का ज़िक्र किया है उन्हें 'आतिश' के यहाँ आकर एक शालीन और गरिमामय व्यक्तित्व मिल गया है। 'आतिश' इनके वर्णन में कभी-कभी संतुलन खो बैठे हैं बल्कि बहुत ही ग़ैर शायराना हो गये हैं :

शेर-ओ-पिलंग[१]-ओ-गुर्ग[२] से बाहर नहीं हूँ मैं
जो चाहे रान[३] खाये जो चाहे सो दस्त खाये

लेकिन हर जगह नहीं, कोई चाहे तो इस बाँकपन से आत्मविसर्जन का रचनात्मक भाव, विपत्तिकाल में साहस, धैर्य और दृष्टि की व्यापकता का संदेश भी प्राप्त कर सकता है। फिर यह बाँकपन स्वाभाविक और स्वस्थ शारीरिक सम्बन्धों से हर्ष और आनंद प्राप्त करने में लज्जा अनुभव नहीं करता, बल्कि निःसंकोच भाव से इसे उजागर करता है। हर्ष और आनंद की यह अभिव्यक्ति जहाँ तक शालीन बनी रहती है और फूहड़पन से बची रहती है, वहीं तक यह हृदयग्राही लगती है और इससे 'आतिश' की विशिष्टता का पता चलता है। जिसकी मिसालें इश्क़िया (शृंगारिक) शायरी पर चर्चा के दौरान दी गई हैं। मोक्ष (मारिफ़त) के वर्णन में भी वह अजीब बेबाकी दिखाता है जिसका उल्लेख हमने सूफ़ी शायरी के दौरान किया है।

सूफ़ी एवं शृंगारिक काव्य-विषयों के अलावा 'आतिश' के यहाँ इस बाँकपन का प्रभाव जीवन के अन्य पक्षों के वर्णन में भी दिखाई पड़ता है। उनके द्वारा प्रयुक्त उपमा, प्रतीकों पर भी इसका प्रभाव है बल्कि उनकी समूची कला इससे प्रभावित हुई है। 'आतिश' के इस व्यक्तित्व या बाँकपन को समझने में उनके ये शे'र सहायक होंगे जो प्रायः उत्तम पुरुष में कहे गये हैं :

नौ[४] आस्माँ हैं सफ़ह-ए-अव्वल के नौ लुग़त[५]
कौनेन[६] एक दो वरक़[७] है अपनी किताब का

शजर-ए-क़दस[८] हैं हम आलम में
इस चमन में नहीं पैबंद अपना

तोड़िए जंज़ीर-ए-हस्ती मिस्ल-ए-तार-ए-अन्कबूत[९]
आजकल जोश-ए-जूनूँ का अपने लोहा तेज़ है

---

१. चीता २. भेड़िया ३. जांघ ४. नया ५. शब्द, शब्द समूह ६. इहलोक और परलोक ७. परस्पर जुड़े हुए दो पन्ने ८. पवित्र वृक्ष ९. मकड़े के जाले की तरह

सूरत-ए-क़तरा-ए-शबनम हूँ अज़ीज़-ए-हरदिल
खींचे ख़ुर्शीद[1] तो गुल मुजको दुर-ए-गोश[2] करे

ये सआदत लिखी है क़िस्मत में किसकी देखिए
खूँ गिरफ़्ता[3] एक मैं हूँ और ख़ंजर सैंकड़ों

बदन-सा-शहर नहीं, दिल-सा बादशाह नहीं
हवास-ए-ख़म्सा[4] से बेहतर कोई सिपाह नहीं

वहशत-ए-दिल का तक़ाज़ा है निकल चलने का
तंग हूँ, गुंबद-ए-गर्दूं[5] का नहीं दर मिलता

निकलकर ख़ाना-ए-ज़िंदाँ[6] से मैं किधर जाऊँ
जुनूँ के जोश में है दो जहाँ का मैदां तंग

अर्श[7] से आगे इरादा मेरी ख़ाकस्तर[8] का है
दिल है परवाना इलाही किस चिराग़-ए-बाम का

सामने आ ही गया लश्कर-ए-अंदोह-ओ-मलाल[9]
अब तो सीधे मेरी आँखों को निशाँ करने दो

कोह-ए-ग़म[10] टूटने पर आह है यों कम ज़र्फ़ी
ठेस से कासा-ए-चीनी[11] को फ़ुग़ाँ[12] करने दो

आज तक आह के कोड़ों से बदन नीला है
आस्माँ को मुझे रुस्वा-ए-जहाँ करने दो

करता है मुझसे अब्लक़-ए-अय्याम शोख़ियाँ
पहचानता नहीं मगर आसन सवार का

क्या जवाँ मर्दों को उजला ये दनी[13] रखेगा
ओढ़ ले आप तो चादर फ़लक-ए-पीर[14] सफ़ेद

---

१. सूर्य २. छुपाना ३. रक्तरंजित ४. पाँचो इंद्रियाँ ५. आकाश की गुंबद ६. कारागार ७. आकाश ८. राख, भस्म ९. विपत्तियों की सेना १०. दुःख का पहाड़ ११. चीनी मिट्टी का पात्र १२. आहें भरना, आर्त्त पुकार १३. अधम, नीच १४. वृद्ध आकाश

नामर्द आस्माँ से गवारा है किसको जंग
'आतिश' सिपर को चीरिए, तलवार तोड़िए

अपनी शरारतों से न बाज़ आये आस्माँ
कोदक मिज़ाजी[१] मुझको ख़ुश आती है पीर की

आतिश आफ़रोज़ी-ए-गर्दूं[२] है तमाशा मुझको
हुजरा जुज़ साया-ए-दीवार मिरे घर में नहीं

ज़मीं पर पाँव रखकर आस्माँ पर नाज़ करता है
मगर ठोकर से चर्ख़-ए-पीर[३] की होगी कमर सीधी

लंग अब्लक़-ए-अय्याम[४] न हो मार के ठोकर
है सख़्त मेरा कासा-ए-सर[५] सुम से ज़्यादा

गर्द-ए-कुल्फ़त[६] जम रही है हर ज़माँ बाला-ए-सर[७]
क्या ज़मीं पैदा करेगा आस्माँ बाला-ए-सर

जमी से होवेगा एक आसमान-ए-नो पैदा
पस अज़ फ़ना जो हुई अपनी चर्ख़ ज़न-मिट्टी

सर बलंदी भी है सरगश्त[८] भी बख़्त[९] के साथ
ख़ाक उड़े अपनी तो हो गुंबद-ए-गर्दां तैयार

मैं मौज हूँ लब-ए-साहिल हैं आसमान-ओ-ज़मीं
कभी जो जोश में दरिया-ए-इज़्तिराब[१०] आया

किसी सूरत से नहीं जाँ को क़रार ऐ 'आतिश'
तपिश-ए-दिल मुझे लाचार लिए फिरती है

ज़मी को ज़लज़ला आया तो मेरी बेक़रारी से
सितारे कैसे-कैसे भड़के, क्या-क्या आस्माँ खटका

कदम से तेरे, दीवानों की आबादी का आलम है
हुआ है शहर इक सहरा-ए-वहशतनाक से पैदा

ख़ाक छानी हम सुबकरूहों[११] ने मिस्ल-ए-गर्द-ओ बाद

---

१. बचपना २. आकाश का आग बरसाना ३. वृद्ध आकाश ४. समय रूपी घोड़ा ५. सिर रूपी बर्तन ६. दु:ख की धूल ७. सिर के ऊपर ८. राह भूल जाना ९. भाग्य १०. बेचैन दरिया ११. कम भारी, हल्के।

वादी-ए-पुरखार से तलुवे सलमत ले गये
सुना करता हूँ इसको छेड़कर पाँवों से मैं मजनूँ
मेरी ज़ंजीर का नाला है अफ़साना बयाबाँ का

जो दीवाना है सेहरा में वो भागे मेरे साये से
सवार-ए-शेर मैं मजनूँ हूँ, अफ़ई[१] ताज़ियाना[२] है

शहर से जाता हूँ मैं दीवाना सेहरा की तरफ
संगरेज़े[३] अब किसी लड़के के दामन में नहीं

जाता हूँ उड़के शहर से सेहरा बहार में
जोश-ए-जुनूँ परी के लगाता है पर मुझे

सफ़र है शर्त मुसाफ़िर नवाज़ बहुतेरे
हज़ारहा शजर-ए-सायादार[४] राह में हैं

सरकशी ज़ेबा[५] है हम दीवानगान-ए-इश्क़ को
ख़म हुई है सैकड़ों कांटों की गर्दन ज़ेर-ए-पा[६]

गर्म रफ़्तारी से हर आबला[७] इक अख़गर[८] है
पाँव से मेरे तह्नी करते हैं पहलू काँटे

आतिश क़दम[९] वो हूँ, मेरी ठोकर जो खाये कोह[१०]
पत्थर हों नर्म होके रुई के पहल[११] तमाम

रोंदता हूँ सबज़ा-ए-रह[१२] की तरह वो बूटियाँ
ढूँढते फिरते हैं जिनको कीमियागर[१३] सैंकड़ों

शौक़ सेहरा का जो होता है तो कहता है जुनूँ[१४]
तेग़ की तरह से मैदान में उरियाँ[१५] चलिए

जरीदा[१६] मैं रह-ए-पुरखौफ़-ए-इश्क[१७] से गुज़रा
जरस[१८] से क़ाफ़िले में बहस नाला क्या करता

---

१. काला सर्प २. कोड़ा, चाबुक ३. पत्थर के टुकड़े ४. छाँवदार पेड़ ५. उचित ६. पैर के नीचे ७. छाला ८. चिंगारी, अंगारा ९. वह जिसके क़दमों से आग निकलती हो १०. पहाड़ ११. रुई के गाले १२. मार्ग के पेड़-पौधे १३. जड़ी-बूटी खोजने वाले, वैद्य-हकीम १५. उन्माद १५. नग्न, उघड़ा हुआ। १६. एकाकी, अकेला १७. प्रेम का भयानक मार्ग १८. क़ाफ़िले का घंटा

बांग-ए-जरस[1] से आगे हर इक का कदम रहा
गर्द अपने कारवाँ की पस-ए-कारवां[2] न थी

वामांदगी से मेरी न नालाँ[3] हो ऐ जरस
मंज़िल में सबसे देखियो तू पेशतर मुझे

मा'रके[4] में हाथ क़ातिल की कमर में डालिये
खींचिए दामन सर-ए-मैदाँ गरेबाँगीर का

बँधवाए दम-ए-क़त्ल न जल्लाद से पट्टे
तलवार से झपकती, न तो क़ातिल से मुड़ी आँख

रोक मुँह पर वार क़ातिल का सिपर[5] की तरह से
मर्द के चेहर पर ज़ेवर ज़ख़्म है शम्शीर का

गर्दन न ख़म हो शम्अ सिफ़त[6] गो जहानियाँ
तन पर से मेरे सिर को करें लाख बार दूर

मुँह नहीं फिरने का क़ातिल की तरफ़ से मेरा
चेहरे पर खाऊँगा मैं यार की तलवारों को
फिर गये हैं मान के में मुझसे तलवारों के मुंह

सख़्तजानी ने मेरी तोड़े हैं ख़ंजर सैंकड़ों
चश्म-ए-कम नहीं लाजिम़ है मेरा नज़्ज़ारा
जंग-ए-आईना[7] नहीं, जो हर-ए-शम्शीर हूँ

जाने दे 'आतिश' अगर अहल-ए-जहाँ तुझसे फिरे
मर्द पीछा न करें भागे हुए लश्कर का

कदम मर्दानगी के साथ मारा दोस्तदारी में
किया हुशियार ग़ाफ़िल पाके अक्सर हमने दुश्मन को

दिल-सैदगह-ए-इश्क़[8] में कब से है निशाना
लिल्लाह[9] उड़ा दे उसे कोई क़दर अंदाज़

---

१. घंटे की आवाज़ २. कारवाँ के पीछे ३. आहें भरता हुआ, दुःखी ४. लड़ाई, युद्ध ५. ढाल ६. दीपक जैसा ७. आईने की ज़ंग ८. प्रेम का आखेट स्थल ९. हे ईश्वर

एक आफ़ताब-ए-ख़ामा-ए-ज़ी[1] का है इश्तियाक़[2]
मानिंद-ए-गर्द-ए-राह हूँ फ़िक्र-ए-सवार हूँ

जोश-ए-जुनूँ देखिए पीछे न मुड़के फिर
मुँह जिस तरफ़ को सूरत-ए-दरिया उठाइए

दिल को रख देते हैं ये कहकर कमाँदारों[3] में हम
इस निशाने को उड़ा दे जो वो तीरंदाज़ है

बगल़ में ले के यूसुफ़ को अकेले वाँ से गुजरा मैं
क़दम रखते हुए जिस रास्ते में कारवाँ खटका

बहर-ए-हस्ती[4] में मैं वो कश्ती हूँ जिसने बेशतर
शौक़ में गिर्दाब[5] के तोड़े हैं लंगर सैकड़ों

साहिल समझते हैं तह-ए-दरिया-ए-इश्क़ को
तूफ़ान नाख़ुदा[6] है हमारे जहाज़ का

किस तवक़्क़ो[7] पर भला इस मैकदे में हम रहें
लब न तर होवें अगर सारा समंदर ख़ुश्क हो

मुझसे दरियानोश[8] को साक़ी पिलाता है शराब
देखता हूँ मैं भी ज़र्फ़-ए-शीशा-ओ-पेमाना[9] आज

ख़ुदा जाने कि होगा हाल क्या हम बादानोशों[10] का
लड़ाकर जाम से तोड़ा है बदमस्ती में मीना[11] को

ग़म-ए-आलम है शिकार-ए-दिल-ए-शोरीदा मिज़ाज[12]
मैंने पहलू में किया शेरे-नयस्ताँ[13] तैयार

ऐ तप-ए-ग़म फ़ुर्सत इकदम दे वगरना जिस्म को
करके वक़्फ़-ए-पंजा-ए-ज़ाग-ओ-ज़ग़न[14] जाता हूँ मैं

---

१. सूर्य रूपी जीन या काठी २. इच्छा ३. धनुर्धर, तीरंदाज ४. जीवन रूपी समुद्र ५. भँवर ६. नाव खेने वाला ७. अपेक्षा ८. समुद्र का पान करने वाला ९. मदिरा-पात्र की सहनशीलता १०. मद्यप ११. मदिरा-पात्र १२. स्वच्छंद हृदय का शिकार १३. जंगल में रहने वाला शेर १४. कौआ और चील के पंजों के सुपुर्द ।

ये शे'र इसलिए प्रस्तुत किये हैं कि 'आतिश' के कवि-व्यक्तित्व की पहचान हो सके और 'आतिश' के इस व्यक्तित्व की पहचान पर ज़ोर इसलिए है कि वे ग़ज़ल के शायर थे और पारम्परिक काव्य विधा होने के कारण इसमें ठेठ निजी स्थितियों और मनः स्थितियों का वर्णन नहीं किया जाता। अब तक सुरक्षित रचनाओं में 'आतिश' के जीवन भर की पूंजी गज़ल के दो दीवान हैं। जिनमें आठ साढ़े आठ हज़ार शे'र, तीन हुक्मनामे और इसके अलावा एक मुख़म्मस[१] और वासोख़्त[२]। अब गज़ल की असली बुनियाद तो निजी रागात्मक अनुभूतियाँ हैं लेकिन शुरू से ही इसमें अन्य विषयों का भी समावेश होता रहा है, जिस का ज़िक्र हम पहले कर आये हैं। इस तरह इस पारम्परिक विधा में शायर का काम प्रायः यह समझा जाता रहा कि पूर्व परम्परा से जन विषयों को ग़ज़ल में स्थान दिया जाता रहा है और जो विषय एक नियम के रूप में स्वीकार कर लिये गये हैं, थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ उन्हीं विषयों को अपनाये। अर्थात् वह निश्चित विषयों पर ही शे'र कहे।

यही नहीं बल्कि ग़ज़ल की भाषा और उसके विभिन्न उपादान भी, जैसे उपमा, प्रतीक, अंतर्कथाएँ आदि, सैकड़ों बरसों से एक जैसे चले आ रहे हैं। अगर सूफ़ियाना शायरी हो तो वही वहदतुलवजूद, जब्र-ओ-आख़्तियार, इश्तियाक़-ए-दीदार, तवक्कुल-ओ-इस्तिग़ना, जुज़ ओ-कुल, हुबाब-ओ-क़तरा व दरिया, तूर व मूसा, ज़र्रा व ख़ुर्शीद का प्रयोग मिलता है और आशिक़ाना शायरी हो तो वही गुल-ओ-बुलबुल, सय्याद व गुलचीं, क़फ़स व आशियाना, शमूअ-व परवाना, लैला-मजनूँ वहशत व सेहरा, शीरीं व फ़रहाद व बेसुतून, जरस-ओ-क़ाफ़िला, नर्गिसे-मस्ताना, पैरहनदरीदा गुल, मुर्गे़ बिस्मिल, ताज़ियाना, सुम्बल[३], कश्ती व साहिल, ख़िज़्र[४]-ओ-राहज़न, ख़िज़्र-ओ-सिकंदर, सिकंदर व आईना, गुंचा-ए-दहाँ, सर्वक़द, समंद[५]-ए-नाज़, तीरे-निगाह, कमान-ए-अबरू, रुख़्सारे आफ़ताबी, चाह-ए-ज़कन[६] आदि प्रयोग मिलते हैं।

निश्चित काव्य-विषयों तथा रूढ़ प्रतीकों की एकरसता के रहते हुए असाधारण प्रतिभा न रखने वाले शायर के सामने और कोई चारा नहीं था कि वह अपने भावों की अभिव्यंजना के लिए सांकेतिक भाषा तथा अप्रस्तुत विधान का आश्रय लेकर अपनी शैली में नवीनता उत्पन्न करने का प्रयास करे। और इसी में अपनी पूरी शक्ति व्यय कर दे। इस तरह देखा जाये तो ग़ज़ल के शायर की समानता एक ऐसे सुनार से दिखाई जा सकती

---

१. वह नज़्म जिसमें हर बंद में पाँच-पाँच मिसरे आते हैं २. शायरी की वह विधा जो मुसद्दस के रूप में होती है जिसमें प्रेमी से नाराज़ होकर प्रेम छोड़ देने का वर्णन होता है।३. एक सुगंधित घास ४. एक मशहूर पैगंबर ५. घोड़ा ६. ठोडी का गड्ढा

है जिसे किसी आभूषण की अनुकृति इस तरह करना होती है कि वह मूल की अनुकृति भी हो और उसमें अपनी मौलिकता भी दिखाई दे ताकि पता चल जाये कि यह उसी की कारीगरी है। 'आतिश' ने भी ऐसा ही किया। शायरी के प्रति उनका दृष्टिकोण यद्यपि यह था कि शे'र में भाव और अभिव्यक्ति दोनों का संतुलन हो :

खींच देता है शबीह-ए-शे'र[1] का ख़ाका ख़याल
फ़िक्र रंगी काम इसमें करती है परदाज़ का
बंदिश-ए-अल्फ़ाज़ जड़ने से नगों के कम नहीं
शायरी भी काम है 'आतिश' मुरस्सासाज़[2] का

लेकिन वे बहरहाल ग़ज़लगो थे। अपनी काव्य-रचना की क्षमता जताने के लिए उन्होंने दोग़ज़ले भी कहे, दुरूह क़ाफ़िए भी बाँधे, रूढ़ काव्य-विषयों को अपनाया, फूहड़पन तक भी पहुँच गये। मगर ज़ाहिर है कि ये बातें 'आतिश' का वैशिष्ट्य नहीं हैं। परम्परा को निभाने वाली बातें हैं और उन्होंने परम्परा का निर्वाह किया और अपनी मौलिक प्रतिभा से उसे निखार दिया। आसानी से समझ में आने वाली तरकीबों, प्रयोगों, प्रतीकों, बयान की सफ़ाई और रोज़मर्रा के मुहावरे के खरेपन ने उनकी मदद की। प्रायः वे पारम्परिक शैली की गज़ल कहते रहे और उनकी ग़ज़ल ज़्यादातर पुरानी विषय-वस्तु और भाषा-शैली से युक्त क़ाफ़िया पैमाई बनी रही। ये शे'र देखिए:

तेरी तक़्लीद[3] से कब्क-ए-दरी ने ठोकरें खाईं
चला जब जानवर इंसां की चाल उसका चलन बिगड़ा

दिल जिगर दाग़ों से दोनों हैं दुकाँ सर्राफ़ की
किश्वर-ए-तन में है जारी सिक्का-ए-सुल्तान इश्क़

अबरुओं से वो मसीं[4] क्यों कर न होवें दिल पज़ीर
खूबसूरत हमने देखा रास्त[5] खम[6] तलवार को

दम फ़ना करने लगी तेरी कमर की जुस्तजू
आशिक़-ए-जाँबाज़ हसती से अदम[7] जाने लगे

बांकी अदा से क़त्ल उन्होंने किया हमें
मेंहदी लगा के पाँव में पंजों के बल चले

---

१. शे'र का चित्र २. गहने गढ़ने वाला ३. अनुसरण, पालन ४. मूंछों का रुआँ ५. सीधा ६. टेढ़ा ७. परलोक

देखकर वो ख़ाल-ए-रुख़[१] मलते हैं रोग़न साज़[२] हाथ
इन तिलों का तेल खिंचता तो मुक़र्रर[३] खींचते
जो रोता हूँ तो दो-दो दिन मेरे आँसू नहीं थमते
हुजूम-ए-यास[४] से अब्र-ए-मिज़ा[५] सावन का बादल है
जाम भरते-भरते ख़ाली शीशा-ए-मुल[६] हो गया
मज्लिस-ए-जमशेद[७] बरहम हो चुकी, कुल[८] हो गया
फिराता है अबस[९] वायज़[१०] सर अपना बक के रिंदों से
तकल्लुफ़ बरतरफ़ याँ ला उबाली[११] कारख़ाना है

तात्पर्य यह कि ऐसे सैकड़ों शे'र और गज़लें ऐसी हैं जिनमें पारम्परिक बातें और पारम्परिक अंदाज़ है। कहीं शब्द-लाघव, कहीं महज़ मुहावराबंदी, कहीं घिसे-पिटे उपमा-प्रतीक, कहीं अतिशयोक्ति की भरमार है। न नये विचारों की चिंता है, न नवीन शैली का ध्यान। मालूम होता है कि उन्हें सिर्फ़ शब्दों की बंदिश का ध्यान रहता है। परिणामस्वरूप सपाट शे'र ही निकलकर आ पाते हैं। क्योंकि शब्दों की बंदिश एक श्रमसाध्य कार्य है और श्रमसाध्यता से सिर्फ़ [illegible] शे'र ही पैदा होता है।

मश्क़-ए-सुख़न[१२] ने बंदिश-ए-अल्फ़ाज़ चस्प की
सच है, ये बात करती है वर्ज़िश बदन दुरुस्त

इसमें ऐसे शे'रों को भी शुमार करना चाहिए जिनमें उन्नाबलबी,[१३] शर्बत-ए-दीदार, गुंचादहनी, सेब ज़क़नी[१४], हलाल अब रूई, आहो-चश्मी, ख़दंग नज़री[१५] कब्क रफ़्तारी[१६] आदि पारम्परिक प्रतीकों के माध्यम से प्रेमिका के नख-शिख का वर्णन किया गया है। और ऐसे बहुत-से शे'र भी इनमें शामिल हैं जिनमें चुम्बन और आलिंगन तथा नाभि और ठोड़ी आदि का वर्णन किया गया है। यहाँ वे अश्लीलता तक पहुँच गये हैं। इन्हीं में वे शे'र भी हैं जिनमें सुंदर जवान लड़कों के प्रति आसक्ति का वर्णन है, जैसे :

सब्ज़ा-ए-ख़त ने किया पज़मुर्दा दिल को बेक़रार
ज़िंदा करती है ये बोटी कुश्ता-ए-सीमाब[१७] को
नमू-ए-सब्ज़ा-ए-नोरस[१८] नहीं इस रू-ए-रंगी पर
जनाब-ए-ख़िज़्र बहर-ए-सर हैं गुलज़ार में आये

१. चेहरे का तिल २. सौंदर्य का चूर्ण बनाने वाला ३. बार-बार ४. निराशाओं की भीड़ ५. पलक ६. शराब का जाम ७. ईरान का एक बादशाह जिसके पास एक प्याला था, जिससे वह संसार भर का हाल जान लेता था ८. फ़ातिहा ९. व्यर्थ में १०. नसीहत देने वाला ११. निश्चिंत, बेफ़िक्र १२. कविता का अभ्यास १३. विलायती बेर जैसे होंठ १४. ठोड़ी १५. तीर-सी नज़र १६. चकोर-सी चाल १७. पारे की भस्म १८. नया पका हुआ फल

लेकिन सुंदर जवान लड़कों के प्रति आसक्ति से सम्बंधित शे'र ज़्यादा नहीं हैं। दूसरे उनकी श्रृंगारिक (इश्क़िया) शायरी के संदर्भ में लड़कों से प्यार के प्रति उनका रवैया इस शे'र में स्पष्ट होता है :

ख़तदार आरिज़ों[१] से हूँ नाक़िस पसंद ख़ुश
रुग़्वत[२] नहीं मुझे समर-ए-दाग़दार से

संक्षेप में, ऐसे शे'रों से शायरी की परम्परा के दबाव और 'आतिश' की रचनात्मक कोशिश, उनकी तबीयत की रंगीनी के दौर और सबसे ज़्यादा लखनवी फ़िज़ा का अंदाज़ा होता है, उनके उस बाँकपन और वैशिष्ट्य का नहीं जिसका ज़िक्र हमने ऊपर किया है। पारम्परिक और घोर श्रृंगारिक विषयों की विद्यमानता के बारे में अलबत्ता यह ज़रूर कहा जा सकता है कि अधिकांश पुराने शायरों की रचनाओं से यह अनुमान होता है कि उस युग में ऐसी बातों का ज़िक्र करना अनुचित और दोषपूर्ण नहीं समझा जाता था लेकिन अशालीन कृत्यों में लिप्त रहना अवश्य अनुचित माना जाता था। आज स्थिति वैसी ही है या इसके ठीक विपरीत है ? इस बहस को उठाने का यह अवसर नहीं है। न ही इस समय हम साहित्य और नैतिकता की बहस को उठाना चाहते हैं। वास्तविकता तो यह है कि 'आतिश' के अशालीन और घोर श्रृंगारिक लगने वाले शे'रों में भी भावों की कोमलता और नवीनता के अनोखे नमूने मिलते हैं : .

हम इस विनिबंध में 'आतिश' के ऐसे शे'रों से छेड़-छाड़ नहीं करेंगे बल्कि यहाँ सिर्फ़ उन स्थलों की ओर संकेत रहे हैं जहाँ ऐसे पारम्परिक विषयों की अभिव्यक्ति में भावों की नवीनता, भाषा की स्वच्छता और शब्दों की ख़ूबसूरत बंदिश से काम लिया है। विशेष रूप से हम यहाँ सूफ़ी और श्रृंगारिक शायरी से वे शे'र यहाँ प्रस्तुत करेंगे जिनसे शायरी की परम्परा के निखार और 'आतिश' के रचनात्मक वैशिष्ट्य का पता चलता है। जीवन की सामान्य स्थितियों को व्यंजित करने वाले 'आतिश' के कुछ ऐसे शे'र देखिए जो कलात्मकता की दृष्टि से श्रेष्ठ शायरी की कोटि में आते हैं।

(२)

इन शे'रों से यह आभास होगा कि जीवन की सामान्य स्थितियों के चित्रण में एक स्वच्छ भाषा और रोज़मर्रा के मुहाविरे से काम लिया गया है और यदि आलंकारिकता भी है तो इससे भाव को क्षति नहीं पहुँचती है। इनमें बेसाख़्तगी की मिसालें भी मौजूद हैं :

---

१. कपोल २. मतलब ३. दाग वाले फल

भाग्य की प्रतिकूलता : मौत माँगू तो रहे आरज़ू-ए-ख़्वाब मुझे
डूबने जाऊँ तो दरिया मिले पायाब[१] मुझे

लज्जा : पयामबर[२] न मयस्सर हुआ तो खूब हुआ
ज़ुबान-ए-ग़ैर से क्या शरह-ए-आरज़ू[३] करते

उपालम्भ : और कोई तलब अब्ना-ए-ज़माना[४] से नहीं
मुझपे अहसाँ जो न करते तो यह अहसाँ करते

बेचैनी : गह[५] याद-ए-सनम दिल में गह याद-ए-इलाही
काबा है तो ये है जो कलीसा हो तो ये है

प्रिय-वियोग : हाथ से हाथ छुड़ाकर वो गये हैं जब से
क़िस्सा रहता है यही पाँवों को याँ, वाँ चलिए

साहस : सर शम्अ साँ कटाइए, पर दम न मारिए
मंज़िल हज़ार सख़्त हो हिम्मत न हारिए

संसार चित्र-वीथी है : अहल-ए-दुनिया हाल-ए-हमदीगर से क्या हों मुत्तिला[६]
मज्लिस-ए-तस्वीर में किसको किसी का होश है

संसार की विचित्रता : एक हाल पर कभी नहीं इसको क़याम है
दुनिया का कारख़ाना तिलिस्मी मुक़ाम है
ज़मीन-ए-चमन गुल खिलाती है क्या-क्या
बदलता है रंग आस्माँ कैसे-कैसे !

उपालम्भ : दोस्तों से इस क़दर सदमे हुए हैं जान पर
दिल से दुश्मन की अदावत का गिला जाता रहा
हँसने वाला नहीं है रोने पर
हम को ग़ुर्बत वतन से बेहतर हैं

भ्रम : बड़ा शोर सुनते थे सीने में दिल का
जो चीरा तो एक क़तरा-ए-ख़ूँ न निकला

---

१. उथला, कम गहरा २. संदेश वाहक ३. इच्छा व्यक्त करना ४. ज़माने के लोग ५. कभी ६. अवगत, सूचित

बेसुधी : ख़बर-ए-अव्वल-ओ आख़िर नहीं मुत्लक़ 'आतिश'
न तो अंजाम है मालूम न आग़ाज अपना
आ निकले थे किधर से कहाँ याँ से जायेंगे
अव्वल की कुछ ख़बर है न हमको अख़ीर की

पौरुष : नामर्द और मर्द में इतना ही फ़र्क़ है
वो नान[१] के लिए मरे ये नाम के लिए

मृत्यु : पाता हूँ मैं मिज़ाज-ए-अनासिर[२] में इख़्तिलाफ़[३]
आपस में होगा एक दिन इन चार से बिगाड़

संदेह : निकलती मुँह से क़ातिल के नहीं बात
मगर लाया है पैग़ाम-ए-ज़ुबानी

बेकमाली : कमाल कौन-सा है वो जिसे ज़वाल[४] नहीं
हज़ार शुक्र कि मुझको न कुछ कमाल हुआ

विछोह : कौन-से दिन हाथ में आया मिरे दामान-ए-यार
कब ज़मीन-ओ-आस्माँ का फ़ासला जाता रहा

कामना : ये आरज़ू थी तुझे गुल के रू-ब-रू करते
हम और बुलबुले बेताब गुफ़्तगू करते

ईश्वर पर भरोसा : अल्लाह है मुश्किल में मददगार हमारा
ऐवान[५] से अंसार[६] से क्या काम हमारा

चोचला : नियाज़मंद न होता तो पूछता हूँ मैं
ये नाज़ आप जो करते हैं फिर कहाँ होता
नक़ाब उलट के जो मुँह आशिक़ों को दिखलाते
तुम्हीं कहो कि तुम्हारा नज़ारा क्या करता

चंचलता : क्या कहूँ यार से कहते हुए शर्म आती है
हज़रत-ए-दिल जो कुछ इर्शाद किया करते हैं

---

१. रोटी २. शरीर का निर्माण करने वाले तत्व ३. परस्पर विरोध ४. विनाश, पतन ५. प्रासाद, भवन
६. मदीने के लोग, हुज़ूर के सहायक

निश्चिंतता : तब्ल-आ-अलम[1] है पास न अपने न मुल्क-ओ-माल
हमसे ख़िलाफ़ होके करेगा ज़माना क्या

प्रेमी की कल्पना : तसव्वुर से किसी के मैंने की है दोस्ती बरसों
रही है एक तस्वीर-ए-ख़याली रू-ब-रू बरसों

नश्वरता : ख़्वाब में मुझको ख़याल-ए-नर्गिस-ए-मस्ताना था
आँख खोली तो लबालब उम्र का पैमाना था

मनुष्य : बदन-सा शहर नहीं, दिल-सा बादशाह नहीं
हवास-ए-ख़म्सा[2] से बेहतर कोई सिपाह नहीं

मनुष्यता : जाँ से अज़ीज़ दिल को रखता हूँ आदमी हूँ
क्यों कर कहूँ मैं, मुझको हसरत नहीं है कोई

आस्था : सफ़र है शर्त मुसाफ़िर नवाज़ बहुतेरे
हज़ारहा[3] शजर-ए-सायादार[4] राह में हैं
मक़्सूम[5] का जो है सो वो पहुँचेगा आपसे
फैलाइए न हाथ, न दामन पसारिए

लज्जा : तलब दुनिया की करके ज़नमुरीदी[6] हो नहीं सकती
ख़याल-ए-आबरू-ए-हिम्मत-ए-मर्दाना आता है

साफ़-सुथरी भाषा और रोज़मर्रा के प्रसंगानुकूल प्रयोग से सम्बन्धित कुछ शे'र और देखिए जो अपनी स्वाभाविकता और सहजता के कारण हर चयन में स्थान पाने के अधिकारी हैं :

गुस्ताख़ बहुत शम्अ से परवाना हुआ है
मौत आई है, सर चढ़ता है दीवान हुआ है

ठीक आई अपने तन पे क़बा-ए-बरहनगी[7]
बाक़ी लिबास छोटे हुए या बड़े हुए

कूचे से यार के न सबा[8] दूर फैंक इसे
मुद्दत के बाद आई है ख़ाक अपनी राह पर

---

१. ढोल और पताकाएँ २. पाँचों इंद्रियाँ ३. हजारों ४. छाँवदार वृक्ष ५ भाग्य, हिस्सा ६. जोरू की गुलामी, स्त्रियों के प्रति आसक्ति ७. निवर्सनता का परिधान, दिगम्बर ८. हवा

आये भी लोग बैठे भी, उठ भी खड़े हुए
मैं जा[१] ही ढूंढता तेरी महफ़िल में रह गया

ज़ेर-ए-ज़मीं से आता है जो गुल सो ज़र बकफ़[२]
क़ारूँ[३] ने रास्ते में लुटाया ख़ज़ाना क्या

इस बला-ए-जाँ से 'आतिश' देखिए क्यों कर बने
दिल सिवा शीशे से नाज़ुक, दिल से नाज़क ख़ू-ए-दोस्त[४]

दो घड़ी बैठिए, तकलीफ़ जो की है साहब
बाद मुद्दत के तुम आये हो इधर आज की रात

रहती हैं आँखें बंद तसव्वुर में यार के
तार-निगह से अपने बंधा है ख़याल-ए-दोस्त

लगे मुँह भी चिढ़ाने देते-देते गालियाँ साहब
ज़बाँ बिगड़ी तो बिगड़ी थी ख़बर लीजे दहन[५] बिगड़ा

'आतिश' जो चाहे पाये तवक्कुल[६] की महकमी
जो सुबह को मिले न रहे शाम के लिए

गिरव[७] हुआ तो इसे छूटना मुहाल हुआ
दिल-ए-ग़रीब मिरा मुफ़लिसों का माल हुआ

(३)

सूफ़ी और शृंगारिक शायरी में उनके बाँकपन की चर्चा हम बाद में करेंगे। पहले जीवन की साधारण स्थितियों पर उनके कुछ शे'र प्रस्तुत हैं जिनमें शब्द-चयन, उपमा एवं प्रतीकों की दृष्टि से एक नवीनता दिखाई देती है जिससे उनके बाँकपन संकेत मिलता है। जिनसे यह भी स्पष्ट होगा कि भाव और अभिव्यक्ति के नये प्रयोगों के बावजूद ये शे'र निजी अनुभवों का गोरखधंधा भर नहीं हैं :

अजब भूल-भुलैयाँ हैं ग़फ़लत-ए-हस्ती
जिसे कि राह हुई उससे ख़ूब ही भटका

---

१. स्थान, जगह २. सोने से मढ़ा हुआ हाथ ३. एक अत्यंत कंजूस और धनी आदमी ४. प्रेमी की प्रकृति ५. मुख ६. ईश्वर की इच्छा ७. रहन, गिरवी

असर रखती मय-ए-गुलगूँ[१] की कैफ़ियत का हस्ती है
उभरने में हुबाब-ए-बहर[२] को एक होश-ए-मस्ती है

समंद-ए-उम्र[३] को अल्लाह रे शौक़-ए-आसायश[४]
अनाँ गस्ता[५]-ओ-बेइख़्तियार राह में है

संसार की क्षणभंगुरता :

नहीं असबाब-ए-दुनिया कौन-सा कश्ती-ए-गर्दूं[६] में
वो उठ कर पहने ख़िलअत[७] को जो बैठा हो कफ़न भूले

मर्द आलूदा[८] न हों दुनिया-ए-बाज़ीगर के साथ
कब वफ़ादारी ज़न-ए-कुह्बा[९] ने की शौहर के साथ

जान देकर महर में देता हूँ मैं उस को तलाक़
ज़ाल[१०] दुनिया की नहीं मंज़ूर दामादी मुझे

ये तर्क कर्दा है शाह-ए-मर्दां से पीर की
दुनिया का ख़्वास्तगार[११] जो है ज़नमुरीद[१२] है

लग-चल न गुलरुख़ों[१३] से नसीम-ए-चमन की तरह
बू-ए-हुसैन इनमें तो ख़ू-ए-यज़ीद[१४] है

तलब दुनिया की करके ज़नमुरीदी हो नहीं सकती
ख़याल-ए-आबरू-ए-हिम्मत-ए-मर्दाना आता है

दिल भर के सैर की न ख़राबात-ए-दहर[१५] की
सैलाव की तरह से हम आज आये कल चले

पतझड़ और वसंत :

खिले चमन में जो गेंदे के फूल तो ये खुला
किये बहार ने ज़ाहिर ख़िज़ाँ[१६] के पिन्हाँ[१७] चाक

---

१. गुलाबी रंग की शराब २. समुद्र का बुलबुला ३. आयु रूपी अश्व ४. सुख-समृद्धि की इच्छा ५. बिना लगाम का ६. आकाश रूपी नौका ७. शाही परिधान ८. लिप्त ९. व्यभिचारिणी स्त्री १०. बूढ़ी ११. इच्छुक १२. स्त्री-प्रेमी १३. फूल जैसे चेहरे वाला १४. अमीर मुआविया का लड़का जो बड़ा ही शराबी और अत्याचारी था और जिसने हज़रत इमाम हुसैन को शहीद कराया था। १५. संसार रूपी मधुशाला १६. पतझड़ १७. गुप्त, छुपा हुआ

दिखाईं देंगे न ये ज़र्द-ज़र्द पत्ते भी
ख़िज़ाँ की भी कोई दस दिन बहार बाक़ी है

अंदेशा-ए-बहार से रंग-ए-ख़िज़ाँ है ज़र्द
दहशत लगी हुई है इसे इंतिक़ाम की

आँसू : फ़िक्र-ए-क़स्र-चर्ख़[१] में क्या मोजज़न[२] होते हैं अश्क
सैल[३] इरादा कर रहा है किस कुहन[४] तामीर का

चंचलता और व्यंग्य : मिली है हमको भी ख़म[५] ख़ाना-ए-अफ़लाक[६] में राहत
सिरहाने हाथ रखकर सोते हैं ज़ेर-ए-सबू[७] बरसों
ख़ुश सुलूकी[८] की ज़मीन-ओ-आस्माँ से मेरे साथ
आया था बेपैरहन[९] पहने कफ़न जाता हूँ मैं
डराता है किसे ऐ शेख़ तू नार-ए-जहन्नुम[१०] से
सगंदर मौज मारे गर निचोड़ूँ पाट दामन का
पाई सज़ा गुनाह न करने की रोज़-ए-हश्र[११]
पूछी गई न बात किसी बेगुनाह की
वाह री आशिक़ों की दिल जोई
किससे वादा नहीं क़ियामत का
ख़ुदा भी ख़ूबसूरत को निहायत दोस्त रखता है
इरादा कौन से दर पर करूँ मैं दादख़्वाही का
क्यों न आशिक़ रहे मुश्ताक़-ए-पयाम-ए-माशूक़[१२]
न रहे मुंतज़िर-ए-वही[१३] पयम्बर[१४] किस दिन
ख़िज्र[१५] से राहे-वतन क्या समझ के पूछूँ मैं
मुझे तो ख़ुद ये ग़रीबुलवतन[१६] नज़र आया

क्रूरता: आया था बुलबुलों की तदबीर में गुलों ने
हँस-हँस के मार डाला सैयाद[१७] को चमन में

---

१. आकाश के महल की चिंता २. डूबा हुआ ३. लहर, ज्वार ४. प्राचीन ५. टेढ़ा अर्थात् कष्टप्रद ६. आकाश रूपी भवन ७. शराब की मटकी के नीचे ८. सदव्यवहार ९. निर्वसन १०. नरक की आग ११. क़ियामत के दिन १२. प्रेमी के संदेश का इच्छुक १३. ईश्वर का संदेश १४. संदेशवाहक १५. भूलों को राह दिखाने वाले पैगम्बर १६. बेवतन, प्रवासी १७. वधिक

आशावाद : हाथ मलकर रह गया सैयाद, उड़ाकर ले गई
दाना-ए-क़िस्मत हवा मेरे परों की, जाल से

चुम्बन : बेमांगे बोसा आशिक़-ए-मिस्कीं को दीजिए
मौला मेरे, सवाल है सूरत फ़क़ीर की

मदिरापान : ज़माने में मुझसा कोई नहीं है दरिया नोश[१]
हुबाब[२] वार सर में भरी हवा-ए-क़दह[३]

आन-बान : ऐ मौज-ए-बेलिहाज़ समझकर मिटाइओ
दरिया भी है असीर[४] तिलिस्म-ए-हुबाब[५] का

दुर्भाग्य : फ़िक्र-ए-दरमाँ जो करूँ दर्द-ए-दिगर[६] पैदा न हो
मुत्तफ़िक़[७] खार से हो, पाँव में सोज़न[८] टूटे
हूँ मैं वो किश्त[९] बचे बर्क़[१०] से बाराँ[११] में अगर
लश्कर-ए-मोर[१२] पे-ए-ग़ारत-ए-ख़िर्मन[१३] टूटे

करुणा : मेरी ईज़ा[१४] के लिए मुर्दे में जान आती है
काटने दौड़ती है माही-ए-बेआब[१५] मुझे

निराशा : किसी ने मोल न पूछा दिल-ए-शिकस्ता[१६] का
कोई ख़रीद के टूटा प्याला क्या करता

आत्मसंतोष : शगुफ़्ता रहती है खातिर हमेशा
क़नाअत[१७] भी बहार-ए-बेख़िज़ाँ है
बाग़-ए-जहाँ में गुल की क़नाअत है जा-ए-रश्क[१८]
उम्र-ए-दोरोज़ा एक क़बा[१९] में तमाम की
करम-ए-हक़ से है गुलज़ार-ए-तवक्कुल[२०] सरसब्ज़
कट के दरिया से मिरे बाग़ में जो आती है

विनम्रता : खाक होते ही हर एक दामान ने जा[२१] दी मुझे

---

१. समुद्र का पान करने वाला २ बुलबुल ३. शराब ४. बंदी ५. बुलबुले का जादू ६. दूसरों का दर्द ७. सहमत, संतुष्ट ८. सुई ९. खेत १०. बिजली ११. वर्षाकाल १२. चींटियों की कतार १३. खलिहान १४. दुःख, कष्ट १५. जलहीन मछली १६. टूटा हुआ दिल १७. धैर्य, आत्मसतोष १८. प्रेरणा लेने की चीज़ १९. परिधान २०. ईश्वरेच्छा रूपी उपवन २१. स्थान

हो गई इक़बाल[१] आख़िर मेरी बर्बादी मुझे

हर्ष और विषाद : ग़ाफ़िल न मिस्ल-ए-बर्क़[२] हो शादी[३] से ख़ंदाज़न[४]
बारान-ए-ग़म से है गिल-ए-आदम[५] ख़मीर[६] की

सजल नेत्र : चश्म-ए-तर आलम-ए-नेरंग[७] दिखाती है मुझे
बुर्ज-ए-आबी[८] मिरे रहने का मकाँ होता है

मृत्यु : बोली ये रूह फैंक के पुश्तारा[९] जिस्म का
भारी है बोझा कौन ये बेगार ले चले

'आतिश' दो स्थितियों की तुलना के माध्यम से गज़ल में अपनी बात कहते हैं। उनकी गज़ल में तार्किकता का समावेश है। इससे उनकी बौद्धिकता और तर्कशीलता का अनुमान किया जा सकता है। ऐसे शे'रों में उनके नूतन प्रयोग देखने योग्य हैं। इनमें वे अंतर्कथाओं से भी लाभ उठाते हैं और समकालीन स्थितियों के निरीक्षण से भी। कभी-कभी चंचलता भी आ जाती है। वे प्रतीकों के माध्यम से कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक बात करने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए-कुछ शे'र देखिए :

पस्त फ़ितरत को हमेशा सरबुलंदों से है लाग
ज़लज़ला ढाता है दीवार-ओ-दर-ओ-मिहराब को

जो नैमत इश्क़ की चाहे तो राहत जान ईज़ा को
असा[१०] पीछे दिया, पहले जलाया-दस्त-ए-मूसा का

मेहरबाँ हो दोस्त कुछ दुश्मन का चल सकता नहीं
आतिश-ए-नमरूद[११] है गुलज़ार इब्राहीम[१२] को

पुर्ज़े उड़ाता है दिल-ए-सैयाद हर नाले के साथ
बाग़बाँ कैंची समझता है मेरी मिनक़ार[१३] को

किसी को क्या कोई घर अपने दिल में करने दे
नगीं[१४] से देख ले बर अक्स[१५] नाम होता है

---

१. स्वीकार्य २. बिजली की भाँति ३. हर्ष ४. हर्षातिरेक, पुलकित ५. मनुष्य की मिट्टी ६. औषधियों का अर्क़ ७. विविधतापूर्ण संसार ८. जलतत्व से संबंध रखने वाली तीन राशियाँ; कर्क, वृश्चिक, मीन ९. बोझ, गट्ठर १०. लाठी, लकड़ी ११. मिस्र का एक अत्याचारी शासक जिसने ख़ुदाई का दावा किया था १२. एक मशहूर पैगम्बर १३. चोंच १४. नग १५. विपरीत, विरुद्ध

ख़ाम[१] को शादी[२] है, ग़म पुख़्ता को है अहसाँ से
किश्त[३] को नफ़ा है, ख़िर्मन[४] को ज़रर[५] बाराँ[६] से

आँख भर न कभी चाँद-सी सूरत देखी
नहीं आलूदा[७] हमारी निगह-ए-पाक हनोज़[८]

नमूद-ए-ग़ैर[९] है मक़्सूद-ए-दिल[१०] आतिश मिज़ाजों[११] को
ये सारी गर्मी-ए हम्माम है मौक़ूफ़[१२] गुलख़न[१३] पर

सहरा को भी न पाया बग़ज़-ओ-हसद[१४] से खाली
साखू[१५] जला है क्या-क्या फूला जो ढाक बन में

मिरी ज़िद से हुआ है मेहरबाँ दोस्त
मिरे अहसाँ हैं दुश्मन पर हज़ारों

मस्जिद से मैकदे में मुझे नश्शा ले गया
मौज-ए-शराब जादा[१६] थी राह-ए-सवाब का

माल-ए-मूज़ी[१७] से तनफ़्फ़ुर[१८] आदमी को चाहिए
सूंघ कर सग[१९] छोड़ देता है असल[२०] जम्बूर[२१] का

आलम-ए-ईजाद भी तुर्फ़ा तिलिस्म-ए-ख़ाक था
कासा[२२] गर मिट्टी था, मिट्टी कासा, मिट्टी चाक था

तकल्लुफ़ से बरी है हुस्न-ए-ज़ाती[२३]
क़बा-ए-गुल[२४] में गुल बूटा कहाँ है

(५)

इन विशेषताओं के साथ-साथ 'आतिश' के यहाँ ऐसी ग़ज़लें भी हैं जिनमें भावों का अद्‌भुत तारतम्य है। इसे हम एक विशेष भाव-स्थिति का तारतम्यपूर्ण वर्णन कह सकते हैं। इनमें आध्यात्मिक भाव-चेतना वाली गज़लें भी हैं और शृंगारिक ग़ज़लें भी। ऐसी कुछ गज़लों के पहले मत्ले यहाँ प्रस्तुत हैं :

१. कच्चा, कमज़ोर २. हर्ष, ख़ुशी ३. खेत ४. खलिहान ५. हानि ६. वर्षा ७. लिप्त, सना हुआ ८. अब भी, अब तक ९. दूसरे का दीदार १०. हृदय का प्राप्तव्य, लक्ष्य ११. गर्म मिज़ाज वाले लोग १२. बंद, ख़त्म १३. भाड़, भट्ठी चूल्हा १४. ईर्ष्या और द्वेष १५. एक वृक्ष १६. खाद्य या पेय, पाथेय १७. कंजूस का माल १८. घृणा १९. कुत्ता २०. शहद २१. शहद की मक्खी २२ पात्र, बर्तन २३. निजी सौंदर्य, व्यक्ति की सुंदरता २४. फूल का परिधान

कूचा-ए-यार में चलिए तो ग़ज़लख़्वाँ चलिए
बुलबुल-ए-मस्त की सूरत से गुलिस्ताँ चलिए

पीरी[१] में आये वो रुख़-ए-रोशन नज़र मुझे
दिखलाये आफ़ताब की सूरत सहर मुझे

वही चितवन की ख़ूँख़्वारी जो आगे थी सो अब भी है
तेरी आँखों की बीमारी[२], जो आगे थी सो अब भी है

ख़्वाहाँ तेरे हर रंग में ऐ यार हमीं थे
यूसुफ़ था अगर तू तो खरीदार हमीं थे

(यह तारतम्यपूर्ण गज़लें तो किसी वासोख़्त की भूमिका प्रतीत होती हैं।)

बादबाँ[३] का काम करती है घटा बरसात की
कश्ती-ए-मय से मुआफ़िक़ है हवा बरसात की

हुबाब आसा[४] मैं दम भरता हूँ तेरी आशनाई का
निहायत ग़म है इस क़तरे को दरिया की जुदाई का

हुस्न-ए-परी इक जल्वा-ए-मस्ताना है इसका
हुशियार वही है कि जो दीवाना है इसका

आईना सीना-ए-साहब नज़राँ है, कि जो था
चेहरा-ए-शाहिद-ए-मक़्सूद[५] अयाँ[६] है, कि जो था

दिखाये हुस्न की अपने जिसे कि यार बहार
ये इश्क़ को कि पुकारा करे बहार बहार

नहाने को लगा जाने जे वो मेहबूब दरिया में
अरीज़ों[७] की जगह बहने लगे मक्तूब[८] दरिया में

जल्द हो बहर-ए-सफ़र ऐ मय-ए-कनआँ[९] तैयार
हो चुका तेरे लिए मिस्र में ज़िंदाँ[१०] तैयार

---

१. बुढ़ापा २. आकर्षण, सुंदरता, सुंदर आँखों को चश्म-ए-बीमार कहा जाता है ३. जहाज़ का पर्दा ४. बुलबले के समान ५. प्रिय का मुख ६. प्रकट, खुला हुआ। ७. चौड़े तख़्ते ८. लिखे हुए पत्र ९. वह स्थान जहाँ हज़रत यूसुफ़ पैदा हुए थे १०. कारागार

ऐसी तारतम्यपूर्ण ग़ज़लों में स्थितियों के विरोध से पैदा होने वाली उकताहट नहीं है। अंतिम ग़ज़ल में तो 'आतिश' के बाँके तेवर, उनका लहजा और कलात्मकता देखने योग्य है।

(६)

सूफ़ी शायरी

तसव्वुफ़ (अध्यात्म चिंतन) का उर्दू शायरी के भाव-संसार में किस तरह समावेश हुआ, औपचारिक होते हुए भी सूफ़ी शयारी ने ग़ज़ल विधा को किस तरह दिशा, गति और गरिमा प्रदान की, इसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। सूफ़ी शायरी करने के लिए विधिवत् सूफ़ी होना ज़रूरी नहीं और 'आतिश' विधिवत् रूप से सूफ़ी थे भी नहीं। तथापि उनकी धार्मिक उदारता, सौहार्द, हृदय की शुद्धता, मानवीय गरिमा और इसके साथ ही साथ लखनऊ के वैभवपूर्ण वातावरण में रहने के बावुजूद उनकी उदासीनता, धैर्यशीलता और त्याग भावना उन्हें सूफ़ी साधनापद्धति के समीप ले जाती है। इन बातों के अलावा उनकी शायरी में ऐसे भी विषय हैं जो विशुद्ध रूप से तसव्वुफ़ के हैं – जैसे मोक्ष या ईश्वर का साक्षात्कार, सर्वशक्तिमानता, एकेश्वरवाद, नाशवानता तथा अनश्वरता, सांसारिक मर्यादाओं से मुक्ति आदि।

ऐसे विषयों की अभिव्यक्ति में भी 'आतिश' के यहाँ पारम्परिक शैली के साथ-साथ एक विशेष रंग है, इसी रंग को उनके व्यक्तित्व के बाँकपन का चमत्कार कहा जा सकता है। और ज़ाहिर है कि इसकी पहचान उनकी अभिव्यंजना शैली से ही की जा सकती है जो कि शायर के व्यक्तित्व का दर्पण होती है।

वास्तव में तसव्वुफ़ को ईश्वर और जगत के सम्बन्ध या सृष्टि का रहस्य जान लेने के असफल प्रयास के रूप में परिभाषित किया जाता है। असफल प्रयास हमने इसलिए कहा कि जगत का स्रष्टा असीम है और मानव-मस्तिष्क ससीम। जो ससीम है वह असीम की अनुभूति सुगमता से नहीं कर सकता। वह इसका सिर्फ़ प्रयास कर सकता है। तसवुफ़ में प्रायः ईश्वर और जगत या खुदा और बंदे के सम्बन्धों को पूर्ण और अंश या समुद्र और बूँद के सादृश्य से समझाया गया है। अर्थात् खुदा एक दरिया है और बंदा एक क़तरा। बंदा, बंदा होने की वजह से खुदा से दूर है और यह दूरी उस समय तक रहेगी जब तक वह बंदा है। बंदा तमाम होकर ही कमाल से वाक़िफ़ होता है और अपने भौतिक अस्तित्व को समाप्त करने के पश्चात् ही शाश्वत सत्य तक पहुँच सकता है और

शाश्वतता का वास्तविक अर्थ है अपने अविनाशी प्रिय से मिलन। इस प्रकार मृत्यु का अभिप्राय समाप्ति या शायरी की भाषा में जीवन रूपी वसंत का समाप्त हो जाना नहीं है। इसलिए सूफ़ी दर्शन में मृत्यु की कल्पना कष्टप्रद या भयावह रूप में नहीं की गई है बल्कि सूफ़ियों की दृष्टि में मृत्यु आह्लाद और आशावादिता से परिपूर्ण है। जैसे भौतिक शरीर की यह पाँच तत्वों[१] से बनी दीवार एक कारागार हो और मृत्यु इससे मुक्ति दिलाती हो और अविनाशी प्रिय अर्थात् ईश्वर से मिलन करने का शुभसंदेश लाती हो। इस वास्तविकता को समझ लेना ही मृत्यु से पहले मर जाना अर्थात् मुक्ति प्राप्त करना है। इहलोक और परलोक दो सराय हैं, इस सराय से उस सराय में पहुँचने का नाम ही मृत्यु है। ये बातें 'आतिश के इन शे'रों में देखिए :

हबाब आसा[२] मैं दम भरता हूँ तेरी आशानाई का
निहायत ग़म है इस क़तरे को दरिया की जुदाई का

बहर-ए-हस्ती[३] में ये तूफ़ाँ है अदम[४] छूटने से
ग़ोते खिलवाता है साहिल से किनारा अपना

नक़्शा-ए-सूरत[५] को मिटाकर आशना[६] मानी[७] का हो
क़तरा भी दरिया है जो दरिया से वासिल[८] हो गया

फ़ना[९] के बाद खुला दिल को इश्क़ का पर्दा
तमाम होके हुए हम कमाल से वाक़िफ़

मरने से अपने पहले जो मर गये हैं उनको
क़ैद-ए-हयात में है हाल-ए-फ़राग़ रोशन

उड़ता है शौक़-ए-राहत-ए-मंज़िल से अस्प-ए-उम्र[१०]
महमीज़[११] कहते हैं किसे और ताज़ियाना[१२] क्या

वादा-ए-सादिक़ तो इज़राईल[१३] से है देखिए
इस सरा से मुझको कब तक उस सरा ले जायेगा

---

१. पंचभूत– जल, वायु, पृथ्वी, आकाश और अग्नि २. बुलबुले के समान ३. जीवन रूपी समुद्र ४. परलोक ५. बाह्य रूप ६. प्रेमी ७. अर्थ, सार ८. एकमेक, मिला हुआ ९. नाश १०. आयु रूपी अश्व ११. सवार की एड़ी पर लगी लोहे की पत्ती १२. चाबुक १३. मौत का फ़रिश्ता

ऐ मौत ! रोज़-ए-हश्र करेगा ये फिर नमूद[1]
नख़्ल-ए-हयात[2] क़त्अ[3] न बुनियाद से हुआ

रूह को क़ालिब-ए-ख़ाकी[4] से निकल चलने दे
लामकाँ[5] से बहुत ये क़ैद-ए-मकाँ दूर रहे

जिस्म-ए-ख़ाकी[6] के तले जिस्म-ए-मिसाली[7] भी है
इक क़बा[8] और भी हम ज़ेर-ए-क़बा रखते हैं

तसव्वुफ़ में ईश्वर को ज्योतिस्वरूप कहा गया है और मनुष्य-जगत को उसका एक प्रतिबिम्ब। वह भौतिकता से परे है, अद्वितीय है, सर्वव्यापी है, हर अस्तित्व के भीतर उसका अस्तित्व है, अप्सराओं (तसव्वुफ़ में 'परी') के सौंदर्य में भी उसी की आभा है, सूर्य में भी, वह समस्त ब्रह्माण्ड का शिल्पी है, जो दृश्यमान है उसकी रचना है। मनुष्य (बंदा) अपने-आपको भी ध्यान से देखे तो वही नज़र आयेगा। हमारी अज्ञानता ही हमारे और उसमें बीच एक आवरण है। ईश्वर अनादि है, जगत की सृष्टि बाद में हुई है, वह जीवन का आधार है, सभी जड़ और चेतन उसके भीतर समाहित हैं, वह एक अदृश्य सत्ता है, वह अपनी इच्छानुसार सृष्टि की गति को संचालित करता है। इस सृष्टि का प्रत्येक चित्र अपने आप में अद्वितीय है, क्योंकि निर्माता स्वयं अद्वितीय है। ईश्वर से प्रेम की इच्छा करने वाले को अपना हृदय दर्पण की भाँति स्वच्छ रखना चाहिए क्योंकि सौंदर्य इसमें आत्मसाक्षात्कार करता था। इस संसार रूपी काँच घर में मनुष्य की नियति सिर्फ़ एक दर्शक बने रहना ही है। आदम की सृष्टि का मंशा सिर्फ़ यह है कि स्रष्टा स्वयं अपनी सृष्टि का तमाशा देखता है। यदि अद्वैत को समझ लिया जाये तो कण-कण में उसी की छवि प्रतिभासित होने लगे। शर्त यही है कि मन शुद्ध हो और सच्ची आस्था हो। परम सत्ता के साक्षात्कार की प्रक्रिया में साधना और निष्ठा के साथ-साथ अपने अवगुणों को भी उतना ही महत्त्व है। प्रकाश कहीं और से नहीं, अपने भीतर से ही प्राप्त करना चाहिए। यहाँ किसी बाह्य आडम्बर की आवश्यकता नहीं।

सूफ़ी दर्शन के उपर्यक्त विचार 'आतिश' के शे'रों में बहुत ही कलात्मक रूप में अभिव्यक्त हुए है :

१.दर्शन, दीदार २. जीवन रूपी वृक्ष ३. कटना ४. नश्वर देह ५. अनिकेत, जिस पर घर न हो ६. नश्वर देह ७. शाश्वत देह ८. परिधान

दीदा-ए-आरिफ़[१] से जब देखा तो ये रोशन हुआ
मज़हर-ए-नूर-ए-इलाही[२] हुस्न-ए-मुश्त-ए-ख़ाक[३] था

दीवानों से है अपने ये कौल उस परी का
ख़ाकी[४] व आतिशी[५] से निस्बत नहीं है मुझको

चारों तरफ़ से सूरत-ए-जानाँ हो जलवागर
दिल साफ़ हो तेरा तो है आईनाख़ाना क्या

जिस तरफ देखिए आता है नज़र वो मेहबूब
जलवा-ए-यार से है आलम-ए-इम्कॉं आबाद

सानअ[६] है वो, ये सूरतें हैं उसकी सनअतें[७]
अल्लाह है क़दीम[८], ये आलम जदीद[९] है

मुंतज़र वो था जुस्तोजू[१०] में ये आवारा था
शेफ़्ता[११] तेरा ही था जो साबित-ओ-सय्यारा[१२] था

बहर-ए-जहाँ में हालत-ए-मजनूँ बनाइए
हर इक हबाब महमिल-ए-लैला बुलंद है

बाज़ार-ए-दहर में तेरी मंज़िल कहाँ न थी
यूसुफ़ न जिसमें हो कोई ऐसी दुकाँ न थी

हुस्न-ए-परी एक जलवा-ए-मस्ताना है उसका
हुशियार वही है कि जो दीवाना है उसका

नाफ़हमी अपनी पर्दा है दीदार के लिए
वरना कोई नक़ाब नहीं यार के लिए

ये हुआ ज़ाहिर अना[१३] लैला मजनूँ से हमें
अपना दीवाना था, अपने वास्ते आवारा था

---

१. ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि २. ईश्वर का प्रकाश ३. मुट्ठी भर धूल की सुंदरता ४. मिट्टी से बना ५. अग्नि से बना हुआ ६. शिल्पकार ७. कृतियाँ ८. प्राचीन (यहाँ अनादि के अर्थ में) ९. नया १०. खोज, लालसा ११. आसक्त, प्रेमी १२. जड़ और चेतन १३. अहं

इब्दाल[1] से हुआ न तो औताद[2] से हुआ
ऐ जज़्ब-ए-दिल जो कुछ तिरी इम्दाद से हुआ

नज़र आती हैं हर सू[3] सूरतें ही सूरतें मुझको
कोई आईनाख़ाना कारख़ाना है ख़ुदाई का

दिल अपना आईना-सा साफ़ इश्क़-ए-पाक रखता है
तमाशा देखता है हुस्न उसमें ख़ुदनुमाई[4] का

मुहताज नहीं रोशनी-ए-आरीती[5] का
दाग़ अपना ही है शम्अ-ओ-चिराग-ए-पर-ए-ताऊस[6]

खुल जायें तुझे मानी-ए-तौहीद[7] अगर 'आतिश'
फिर देखिए तो दिखलाएँ गुल-आ-ख़ार अजब रूप

फ़र्श-ए-क़ालीन और नम्द[8] का आशना होना नहीं
आतिश-ए-दरवेश[9] को है अपने बिस्तर से गरज़

हाल पर अपने तवज्जो की नज़र थी जिन दिनों
आफ़ताब-ए-ज़र्रा परवर जलवा-ए-जाना न था

सेहरा-ए-तन की सैर तो मजनूँ ज़रा करे
महमिल सवार है उसी गर्द-ओ-ग़ुबार में

ज़हूर-ए-आदम-ए-ख़ाकी[10] से ये हमको यक़ीं आया
तमाशा अंजुमन का देखने ख़िल्वत नशीं[11] आया

नज़र आया तमाशा-ए-जहाँ जब बंद की आँखें
सफ़ा-ए-क़ल्ब[12] से पहलू में हमने जामेजम पाया

सफ़-ए-कल्ब से ज़ेर-ए-नगीं है बहर-ओ-बर दोनों
मिला रुतबा सिकंदर का मुझे आईनासाज़ी से

दिखला रही दिल की सफ़ा दो जहाँ की सैर
क्या आईना लगा हुआ अपने मकान में

---

१. बदलाव, गतिमयता २. स्थिरता, खूँटे से बंधना ३. ओर, तरफ़ ४. आत्म-प्रदर्शन ५. अस्थाई, माँगी हुई वस्तु ६. मोर के आकार का दीपदान ७. अद्वैत, ईश्वर का एक होना ८. ऊनी कपड़ा ९. फक्कड़ आतिश १०. मिट्टी से बने मनुष्य का रूप ११. एकांत में रहने वाला १२. हृदय की शुद्धता

दीदनी[१] आलम-ए-ईजाद में तामीर हूँ मै
आईनाख़ाना-ए-महबूब की तस्वीर हूँ मैं

है जो हसरत तो सरापा[२] चश्म होने की हमें
हासिल उस आईनाख़ाने में फ़क़त नज़्ज़ारा था

फिरता हूँ फेरता है वो पर्दानशीं जिधर
पुतली की तरह से नहीं मैं अख़्तियार में

देखने में ये सब बातें पारम्पारिक लगती हैं लेकिन इन शे'रों में शिल्प और शैली का ऐसा नयापन भी मिलता है जिससे 'आतिश' की संवदेनशीतलता का पता चलता है। संसार रूपी समुद्र में बुलबुले रूपी आसन पर लैला का आसीन होना और बंदे को मेहबूब के आईनाख़ाने की तस्वीर कहना इसका सबूत हैं। इसके अलावा एक उल्लेखनीय बात यह है कि 'आतिश' के यहाँ मौन, समर्पण और ध्यान – यदि उनके शब्दों में ही कहना चाहें तो आत्मतल्लीनता का भाव बहुत कम है बल्कि इसकी तुलना में आत्मिक संताप की प्रवृति अधिक प्रभावी है। उनमें वह दक्षता नहीं है जो साधना की उच्चावस्था में साधक को प्राप्त होती है और सांसारिक अर्थो में उस दक्षता का कोई अर्थ नहीं होता है। इसी तरह के कुछ शे'र देखिए जिनमें वे मंसूर और चश्मा-ए-कौसर था ज़िक्र भी बहुत इज़्ज़त से नहीं करते :

मंसूर भी जो हो तो अनलहक़[३] कहें न हम
अपने तरीक़ में नहीं मा-व-मन[४] दुरुस्त

ले चली है जो क़ज़ा मुझसे क़दहकश[५] को बहिश्त[६]
ज़र्फ़-ए-गुंजाइश-ए-मै चश्मा-ए-कौसर[७] में नहीं

'आतिश' तो एकांत प्रेमियों की लज्जा और संकोच पर भी व्यंग्य करते है :

रुऊनत[८] कौन-सी शै पर है इन उज़्लतगज़ीनों[९] को
हसर-ए-कुहना देखा दस्त-ए-ख़ुश्क[१०]-ओ-पा-ए-शल[११] पाया

उनमें परमात्मा के दर्शन की उत्कंठा है और वे परमात्मा के प्रति भी चंचलता दिखाते हैं। इसमें भी उनका बाँकपन ही झलकता है। अपने हृदय की लालसाओं के उद्‌गार में

१. दर्शनीय २. सिर से पैर तक ३. मैं ईश्वर हूँ, अहं ब्रह्मास्मि ४. क्यों और कौन ५. शराबी ६. स्वर्ग, जन्नत ७. स्वर्ग का एक कुंड ८. गर्व, घमंड ९. एकांत प्रेमी १०. सूखा हाथ ११. थके पैर

उनका यह खुलापन द्रष्टव्य है :

दीवाना है दिल यार तिरी जलवागरी का
मुश्ताक़[1] निहायत ही ये शीशा[2] है परी का

तिश्ना-ए-दीदार[3] मुझ-सा दूसरा कोई नहीं
सबसे पहले मुझको ऐ हंगामा-ए-मशहर[4] उठा

पयम्बर मैं नहीं, आशिक़ हूँ जानी
रहे मूसा ही से ये लंतरानी

अर्श[5] से आगे इरादा मेरी ख़ाकस्तर का है
दिल है परवाना इलाही किस चिराग़-ए-बाम[6] का

लाया है इश्क़ हुस्न का तेरे कशां-कशां[7]
आता था कौन आलम-ए-ईजाद[8] की तरफ

हुक्म से अपने जहन्नुम में जिसे तू भेजे
फिर वो काफ़िर है जो उसको रहे परवा-ए-बहिश्त[9]

कातिब-ए कुदरत से अपनी गुफ़्तगू है रोज़-ए-हश्र
ख़त-ए-पेशानी हमारे पास दस्तावेज है

न पूछ, कान में क्या-क्या कहा है, किस-किस ने
फिरा हूँ तेरी खबर मैं कहाँ-कहाँ सुनता

नक़ाब उलटके जो मुँह आशिक़ों को दिखलाते
तुम्हीं कहो कि तुम्हारा नज़ारा क्या करता

महफ़िल आबाद है, मुँह पर से नक़ाब उलटो तो
देख लेगा कोई होवेगा जो बीना[10] बाक़ी

यह ध्यान देने योग्य है कि 'आतिश' महबूब-ए-हक़ीक़ी (ईश्वर) को सनम और परी के अलावा यूसुफ़ के रूप में भी देखते है। उनके सौंदर्य प्रेम का बांकपन इस रूप में व्यक्त होता है :

---

१. इच्छुक २. हृदय रूपी दर्पण ३. दर्शन का प्यासा ४. महाप्रलय, क़यामत ५. आकाश ६. दीवार का चिराग़ ७. ज़बर्दस्ती, खींचते-खींचते ८. बनाई हुई दुनिया ९. जन्नत की चिंता १०. जिसकी आँखों में ज्योति हो

जमाल दोस्त हूँ यासीं[1] के बदले वक़्त-ए-अख़ीर
सुनूँगा सूरा-ए-यूसुफ़[2] ज़बान-ए-क़ारी से

इन शे'रों से पहले 'आतिश' के व्यक्तित्व और सूफ़ियाना कृतित्व के बारे में जो कुछ कहा गया, उसे ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं उनकी ये रचनाएँ लखनऊ की शायरी में तो उन्हें विशिष्ट स्थान दिलाती ही हैं, सूफ़ी शायरी की समूची परम्परा में भी इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सूफ़ी शायरी की इस चर्चा के समापन से पहले यह उचित होगा कि दो एक शे'र ऐसे पेश करते चलें जिसे 'आतिश' के लौकिक प्रेम और आध्यत्मिक प्रेम के सम्बंधों को लेकर दृष्टिकोण का पता चलता है। हालांकि यह पारम्परिक विषय है फिर भी 'आतिश' ने जिस रूप में इन सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है वह अरुचिकर नहीं है बल्कि इन शे'रों कोई-कोई मिसरा तो कहावत बन गया है :

मुसहफ़-ए-रू-ए-हक़ीक़त की तिलावत[3] से खुला
इश्क़-ए-माशूक़-ए-मजाज़ी अब्जद-ए-तिफ़्लाना[4] था

वाह री नैरंगसाज़ी-ए-तिलिस्म-ए-ज़िंदगी[5]
महवियत[6] आखें थीं दिल अल्लाह का दीवाना था

समझे न मासियत कोई अपना बुतों से इश्क़
मद्दे-नज़र है हुस्न-ए-ख़ुदादाद की तरफ़

ख़ुदा याद आ गया मुझको बुतों की बेनियाज़ी से
मिला बाम-ए-हक़ीक़त ज़ीना-ए-इश्क़-ए-मजाज़ी से

(७)

शृंगारिक शायरी

स्त्री-पुरुष में परस्पर आकर्षण एक स्वाभाविक बात है। स्वस्थ वातावरण में यह आकर्षण एक आत्मीय लगाव का रूप ले लेता है। दूसरे शब्दों में इसी को प्रेम कहते हैं। प्रेम का यह भाव व्यक्ति के हृदय को उदात्तता और गरिमा से परिपूर्ण कर देता है और जीवन को आह्लादपूर्ण बना देता है। लेकिन इस भाव की स्वस्थ अभिव्यक्ति न होने

---

१. कुरान की वह सूरत जो मृत्यु के समय पढ़ी जाती है २. कुरान की वह सूरत जो हर्ष के समय पढ़ी जाती है। ३. कुरान शरीफ़ को पढ़ना ४. बच्चों का खेल ५. जीवन की विविधता का जादू ६. मंत्रमुग्ध, तल्लीन

पर मन में खिन्नता और उदासी जन्म ले लेती है। ऐसी स्थिति में निष्ठावान प्रेमी पीड़ा अनुभव करता है तथा अपने प्रिय को निष्ठाहीन, क्रूर और निर्मम समझने लगता है। इस प्रकार दु:ख, निराशा और उन्माद के कारण वह मृत्यु की आकांक्षा करने लगता है। कभी स्त्री-प्रेम की असफलता उसे सुंदर लड़कों से प्रेम करने के लिए प्रवृत्त कर देती हे। वह वेश्यालयों के देह-व्यापार की ओर आकर्षित होता है, कभी वह झूठे प्रिय के रंग-रूप और केश-कपोलों के सुखद भ्रम में खोया रहता है। अपनी कल्पना में ही वियोग की पीड़ा और संयोग के सुख की अनुभूति करता है। ऐसी स्थिति में उसके मन में वासना भी जन्म ले लेती है। उर्दू शायरी पर लखनऊ के आम सांस्कृतिक परिवेश का ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। अतएव 'आतिश' के यहाँ ऐसे शे'रों की कमी नहीं है जिनमें वासनात्मकता की झलक मिलती है। उदाहरण के लिए इन शे'रों पर दृष्टिपात कीजिए :

वो ऐसा कौन-सा माशूक़ है जिसको नहीं चाहा
ये फ़र्दें जितनी थी हैं उन पर हमारी भी निशानी है

वह फूल कौन-सा है कि सूंघा नहीं जिसे
चक्खे हुए हैं बाग़-ए-जहाँ के ये फल तमाम

इलाही एक दिल किस-किस को दूँ मैं
हज़ारों बुत हैं याँ हिंदोस्ताँ है

उड़ाते दौलत-ए-दुनिया को हैं हम इश्क़बाज़ी में
तलाई[1] रंग पर सदक़े किया करते हैं कुंदन को

इश्क़-ए-बुताँ में लुत्फ़ उठाया तूने क्या
'आतिश' से पूछिए जो वो मर्द-ए-खुदा मिले

ऐसे शे'र भी उनके यहाँ मिल जाते हैं :

दरवाज़े में से चलिए सरा-ए-हबीब में
हसरत से ताकुजा[2] पस-ए-दीवार[3] देखिए

बेवक़्त-ए-यार में गये आया नहीं क़रार
दीवार फाँदी, बंद मिला है जो दर मुझे

---

१. सुनहरा २. कहाँ तक ३. दीवार के पीछे

शब्द-प्रयोग के कौशल से युक्त यह वह शे'र है जिसे लखनऊ के साथ जोड़ा जाता रहा है :

हवा से उड़ के पहुँचा उस परी पैकर[१] के कूचे में
वो मजनूँ हूँ जिसे तख़्त-ए-सुलेमाँ[२] नातवानी[३] है

लेकिन इस रंग के अलावा इन शे'रों से यह अंदाज़ा होता है कि उन्होंने किसी से किसी से प्रेम ज़रूर किया होगा। उनके पास भावों से परिपूर्ण एक हृदय है और उन्होंने उसकी सुखद धड़कनों को सुंदर अभिव्यक्ति भी दी है। इससे उनके यहाँ प्रेमी की चारित्रिक विशेषताओं का भी पता चलात है। ये शे'र देखिए :

मैं ऐसे साहब-ए-अस्मत परी पैकर पे आशिक़ हूँ
कि हूरें आके पढ़ती हैं नमाज़ें जिसके दामन पर

पर्दा नामूस-ए-मुहब्बत[४] का रहे या न रहे
लड़ गई है अब तो एक शाहिद-ए-मस्तूर[५] से आँख

गुफ़्तगू अल्लाह ने मूसा से की है ऐ सनम
हमको भी आवाज़ पर्दे से सुनाया चाहिए

यह कड़वाहट इस शे'र में और लुत्फ़ पैदाकर देती है:

मेरी तरफ़ से सबा[६] कहियो मेरे यूसुफ़ से
निकल चली है बहुत पैरहन[७] से बू तेरी

ज़ेर-ए-कनार[८] इत्र वो मलकर गए थे शब
अब तक महक रही है हमारी बग़ल तमाम

यार को मैंने, मुझे यार ने सोने न दिया
रात भर तालअ-ए-बेदार[९] ने सोने न दिया

ता सुबह तुझे याद किया मुझको जगाकर
भूला न तेरे साथ का सोना मिरे दिल को

और उनकी मशहूर ग़ज़ल के ये शे'र युवावस्था के प्रेम के शालीन वर्णन के संदर्भ

---

१. परी जैसी देह २. वह तख़्त पर जिस बैठ कर हज़रत सुलेमान उड़ा करते थे ३. कमज़ोरी, व्यर्थता ४. प्रेम की लज्जा ५. छुपा हुआ प्रेमी ६. वायु ७. लिबास, कपड़े ८. बाँह और छाती के बीच की जगह ९. जागा हुआ भाग्य

में शाहकार की हैसियत रखते हैं। इनमें वंचना और निराशा का भाव नहीं है, न ही वासनाप्रियता बल्कि एक हर्ष और उल्लास की मन:स्थिति को व्यंजित किया गया है। ऐसे शे'रों से अंदाज़ा होता है कि अगर 'आतिश' ने सचमुच प्रेम किया भी हो तो वह असफल प्रेम नहीं था। ग़ज़ल के इन शे'रों में भावों की अन्विति भी है, जो 'आतिश' की ग़ज़लों में कई जगह नज़र आती है और जिसका ज़िक्र हमने पहले किया है :

शबे-वस्ल[१] थी, चाँदनी का समाँ था
बग़ल में सनम था ख़ुदा मेहरबाँ था
वो शब थी कि थी रोशनी जिसमें दिन की
ज़मीं पर से इक नूर ता आस्माँ था
मुशाहिद[२] जमाल-ए-परी[३] की थीं आँखें
मकान-ए-विसाल इक तिलिस्मी मकाँ था
हुज़ूरी निगाहों को दीदार से थी
खुला था वो पर्दा कि जो दरमियाँ था

'आतिश' की ऐसी शायरी को समझना मुश्किल नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों से हैं जिनका ज़िक्र हमने ऊपर किया है। वे एक साधारण शालीन व्यक्ति की भाँति चाहने ओर चाहे जाने की आकांक्षा अपने भीतर लिये हुए हैं। बड़ी सादगी से बेहिचक कहते हैं :

किसी का हो रहे 'आतिश' किसी को कर रक्खे
दो रोज़ा उम्र को इंसाँ न रायगाँ[४] काटे

नाज़ुक दिलों को शर्त है 'आतिश' ख़्याल-ए-यार
शीशा जो दे ख़ुदा तो परी को उतारिए

हुस्न नाक़िस[५] है कोई आशिक़ न हो 'आतिश' अगर
है यक़ीं बेपर परी है, है जो बेपरवाना शम्अ

एक और प्रतीक के माध्यम से यही बात दुआ के रंग के साथ इस तरह सामने आती है :

---

१. मिलन की रात २. आसक्त ३. परी की सुंदरता ४. व्यर्थ ५. अधूरा

या रब असीर-ए-ज़ुल्फ़[१] दिल-ए-दागदार हो
ताऊस[२] दाम-ए-अब्र-ए-स्या[३] का शिकार हो

प्रेम में चुम्बन और आलिंगन के प्रसंगों पर लिखते समय उनके यहाँ बात वासना तक पहुँच जाती है और कभी-कभी उसमें नग्नता भी झाँकने लगती है, इसे लखनऊ के आम माहौल का असर कहा जा सकता है। लेकिन इसी कल्पना के कारण 'आतिश' के यहाँ पारम्परिक या घोर शृंगारिक प्रवृति के बावजूद प्रेम के मनोविज्ञान की झलक भी मिलती है। उनका प्रेमी वियोग की अपेक्षा संयोग की स्थिति से अधिक परिचित है। वह उतना शंकालु और ईर्ष्यालु भी नहीं है। इसीलिए उनके यहाँ किसी के प्रति प्रेम की प्रतिद्वंद्विता का भाव भी कम है। 'आतिश' का प्रेमी रूठता भी है जिससे उसकी आत्मीयता और लज्जा प्रकट होती है और वह प्रतिशोध भी लेता है। हमें मालूम है, 'आतिश' ने एक श्रेष्ठ वासोख़्त[४] भी लिखा है जिसमें इसी प्रकार के भावों को अभिव्यक्ति दी गई है। खास बात यह भी है कि 'आतिश' के यहाँ प्रेमी उपेक्षापूर्ण व्यवहार नहीं करता है और वह ज़माने में बदनाम नहीं है। वह एक सम्मानित व्यक्ति होने के साथ-साथ प्रेम की टीस से बख़ूबी परिचित है। दो प्रेमियों की परस्पर बातचीत से प्रेम की स्वाभाविकता का पता चलता है। उसमें चंचलता भी है बलिक बांकपन का वह स्वर भी है जिसका उल्लेख हमने उनके कवि-व्यक्तित्व की चर्चा के दौरान किया है। यही बाँकपन प्रिय के सौंदर्य-वर्णन में प्रयुक्त उनके उपमा एवं प्रतीकों में भी झलक उठता है।

उपर्युक्त सभी विशेषताएँ इन शे'रों में देखी जा सकती हैं। इनमें प्रेमिका नख-शिख वर्णन है, उसकी भंगिमाओं और साज-सज्जा का चित्रण है। इनमें प्रेम की तीव्रता के साथ-साथ प्रेमी की लज्जा भी झलकती है और मिलन का हर्षातिरेक भी। इससे अंदाज़ा होता है कि 'आतिश' के यहाँ प्रेम का एक परिपाटीबद्ध रूप नहीं है बल्कि वह मुनष्य की एक स्वाभाविक वृत्ति के रूप में विद्यमान है और वह इसी दुनिया से जुड़ा हुआ है। यह प्रेम वह आनंददायक मनोभाव है जो बीसवीं शताब्दी में हसरत मोहानी की शायरी में प्राप्त होता है और उर्दू की शृंगारिक शायरी में इसका विशेष महत्व है ।

---

१. केश-जाल का बंदी २. मोर ३. काले बादलों का जाल ४. शायरी की एक विधा जिसमें प्रेमी से नाराज़ होकर प्रेम छोड़ देने का वर्णन होता है।

प्रेमी का ध्यान

भागता है अपनी आँखों से ख़्याल-ए-रू-ए-यार
किस तरह आग़ोश में लेता है हाला[1] माह को

प्रेम की तीव्रता

दूर से कूचा-ए-दिलवर को खड़ा तकता हूँ
न दीवार का तकिया है न दर का पहलू
हसरते जलवा-ए-दीदार लिये फिरती है
पेश-ए-रौज़न[2] पस-ए-दीवार लिये फिरती है
हसरत-ए-जलवा-ए-दीदार बहुत है मुझको
चाहिए मेरे लिए आईनाख़ाना शब-ए-वस्ल[3]
ऐ फ़लक इतना तो महफ़िल में फ़रोग़[4] अपना भी हो
यार के नज़दीक हम बैठें खड़ी हो दूर शमुअ
तार-तार-ए-पैरहन में भर गई है बू-ए-दोस्त
मिस्ल-ए-तस्वीर-ए-निहाली[5] मैं हूँ या पहलू-ए-दोस्त

मिलन और दर्शन

अल्लाह रे हमारा तकल्लुफ़ शब-ए-विसाल
रोग़न के बदले इत्र जलाया गुलाब का
उलटा उधर नक़ाब तो पर्दे पड़े इधर
आँखों को बंद जल्वा-ए-दीदार ने किया
आमद-आमद[6] उस सरापा नूर[7] की है बज़्म में
शम्अ उड़ जावे जो हाथ आवे पर-ए-परवाना आज

प्रेमिका के स्नान का दृश्य

उतरे हो तुम जो गुस्ल[8] को आलम है वज्द[9] का
दरिया उछलता है कलाह-ए-हबाब[10] को
दरिया में एक रोज़ नहाने गया था यार
उस दिन से अब तक आँखों में जान-ए-हबाब है

---

१. वृत्त, दायरा २. छिद्र, सूराख ३. मिलन की रात ४. उजाला ५. बिस्तर, तोशक ६. आगमन ७. सिर से पांव तक आलोकित ८. स्नान ९. ध्यानावस्था १०. बुलबुले की गोलाई ।

प्रेमिका की देह-यष्टि

क़द-सा तिरे ऐ यार नमूदार[१] कहाँ है
शम्शाद[२] न गुलशन में, न लश्कर में निशाँ[३] है

नाज़ुक अंदामी[४] में क्या निस्बत किसी को यार से
बद्धियाँ[५] पड़ती हैं उस गुलके बदन पर हार से

बर्क़-ए-बेपर्दा अगर चेहरा-ए-नूरानी है
पर्दा पोशी तेरी, तलवार की उरियानी[६] है

शब-ए-महताब में मुँह खोलकर वो शोख़ सोता है
सितारा आजकल चमका हुआ है माह-ए-ताबाँ का

दिखाये चेहरा-ए-रोशन वो कहते हैं सरे शाम
वो आफ़ताब नहीं है जिसे ज़वाल हुआ

क्या चमक कर निकला था सूरत मिलाने यार से
सामने ख़ुर्शीद[७] के उसने कफ़-ए-पा[८] कर दिया

खींचता है आपको दूर इस क़दर क्यों आफ़ताब
साया किया सूरजमुखी का है किसी रुख़सार पर

हाले में माह का होता है चकोरों को यक़ीं
कभी अंगड़ाई जो वो रश्क़-ए-क़मर[९] लेता है

कभी-कभी जो दिखा आये रू-ए-रंगी तू
ख़िज़ाँ में मुर्ग़-ए-चमन को ग़म-ए-बहार न हो

गैसू-ए-मिस्कीं रुख़-ए-महबूब तक आने लगे
चश्मा-ए-ख़ुर्शीद में भी साँप लहराने लगे

ख़ुश हो न देखकर क़द-ओ-ज़ुल्फ़-ओ-दहान[१०]-ए-यार
हर्फ़-ए-अलम[११] अयाँ[१२] है अलिफ़ लाम मीम से

क्या-क्या उलझता है तिरी ज़ुल्फ़ों के तार से
बख़िया[१३] तलब है सीना-ए-सदचाक[१४] शाना[१५] क्या

---

१. दिखने वाला २. सर्व की क़िस्म का एक वृक्ष ३. ध्वज, पताका ४. कोमलता ५. रगड़ के निशान ६. नग्नता, नंगापन ७. सूरज ८. पैर का पंजा ९. चंद्रमा भी जिससे होड़ लगाये १०. मुख ११. दुःख १२. प्रकट होना १३. दोहरा टाँका १४. सैंकड़ जगह से फटा हुआ १५. कंधा

ठग की फाँसी से बुला हलक़े में ज़ुल्फ़-ए-यार के
अबरूओं[१] की कजअदाई[२] तेग़-ए-रहज़न[३] में नहीं

ज़ुल्फ़-ए-मुश्कीं[४] के जो सौदे में दिल है घबराता
पूछता फिरता हूँ एक-एक से तातार[५] की राह

याद-ए-अबरू-ए-सनम रखती है बेताब मुझे
नेश-ए-अक़रब[६] हुई है मेरी रग-ए-ख़्वाब मुझे

तैयार रहती हैं सफ़-ए-मिज़गाँ[७] की पलटनें
रुख़सार यार है कि जज़ीरा[८] फ़िरंग[९] का

याद-ए-रुख़सार-ए-किताबी जो रहा करती है
दिल समझता है मिरा हाफ़िज़-ए-क़ुरआँ मुझको

तुम्हारी अबरू-ए-कज[१०] पर था दूज का धोखा
स्याह होगा अगर ईद का हलाल हुआ

सामने सीना न कर ऐ दिल, दहन[११] के ख़ाल[१२] से
रुकती है बंदूक की गोली कहीं भी ढाल से

खाल-ए-स्या बनाता है रुख़सार पर वो माह
क्या इन दिनों ज़हल[१३] का सितारा बुलंद है

लब-ए-जाँ बख़्श के क़रीब वो ख़त
शरह[१४] है मतन-ए-ज़िंदगानी[१५] का

मज़्मून-ए-लब, ख़याल-ए-रुख़-ए-यार में मिला
पैदा किया है हमने ये लाल आफ़ताब से

दहन पर हैं उनके गुमाँ कैसे-कैसे
कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे-कैसे !

आइने में अक्स-ए-चश्म-ए-यार का आलम न पूछ
देख ले 'आतिश' कँवल फूले हुए तालाब में

माँगिए क्या ख़ुदा से चश्मा-ए-ख़िज़्र
क्या सनम के दहन से बेहतर है

---

१. भौंहे २. टेढ़ापन ३. लुटेरे की तलवार ४. सुगंधित बाल ५. तुर्किस्तान का एक इलाका जहाँ तातारी रहते हैं ६. बिच्छू का डंक ७.पलकों की पंक्ति ८. द्वीप, टापू ९. अंग्रेज का मुल्क १०. टेढी भौंह ११. मुख १२. तिल १३. एक अशुभ नक्षत्र १४. व्याख्या करना १५. किताब की इबारत

नीलोफ़र[१] आँख है मिरे दरिया-ए-हुस्न की
शबरंग मर्दुमक[२] नहीं भौंरा कँवल में है

परिधान एवं शृंगार

चमक रही है बहुत बर्क़ से मिलाऊँगा
तेरे दुपट्टे की उतरी हुई किनारी से
आरायश-ए-जमाल[३] बला का नुज़ूल है
अंधेर कर दिया जो वो मिस्सी लगा चुके
देखिए किस-किस नज़ाराबाज़ का दिल डूब जाये
यार को पैराहन-ए-आब-ए-रवाँ[४] दरकार है
गुल चाक-चाक कर रहे हैं अपने पैरहन
शायद क़बा-ए-यार की क़तअ-ओ-बुरीद[५] है
चस्पाँ क़बा ही यार नहीं ख़ुशनुमा तुझे
ज़ेबंदारास्ती[६] से कजी[७] है कुलाह[८] की
तिल क्या बनाया यार ने रू-ए-सबीह पर
फ़िरऊँ[९] को तख़्त-ए-आज[१०] के ऊपर बिठा दिया

भाव - भंगिमाएँ

नहीं मालूम उन आँखों का इरादा क्या है
कुछ इशारे में तो मिज़्गाँ[११] ने कहा अबरू[१२] से
तुम जो गोया हुए तो फूल झड़े
गुंचे से मुँह में रंग लाई बात

प्रेम का प्रभाव

हँसते-हँसते तो किया क़त्ल गुनहगारों को
रो दिया देख के जल्लाद ने ज़िंदा[१३] खाली
हुस्न तक़लीफ़-ए-लब-ए-बाम उसे देता है
अक़्ल कहती है कि साया पस-ए-दीवार न हो

---

१. कुमुद का फूल २. आँख की पुतली ३. सुंदरता की सजावट ४. बारीक सफेद कपड़ा ५. कतरनें ६. शोभायमान होना ७. तिरछापन ८. टोपी ९. एक अत्याचारी शासक १०. हाथी दाँत ११. पलक १२. भौंह १३. क़ैदखाना

प्रेमी से वार्तालाप

नियाज़मंद न होता तो पूछता हूँ मैं
ये नाज़ आप जो करते हैं फिर कहाँ होता
सुलेमाँ हम हैं ऐ महबूब-ए-जानी
समझते हैं तुझे बिलक़ीस सानी
तेरी तलवार की बुर्रश[१] का बहुत शुहरा[२] है
हम भी देखें तो हमें करती है क्यूँकर टुकड़े
कुछ जो ग़ैरत हो तो ऐ सफ़्फ़ाक[३] इक बार और भी
ज़ख़्म ओछे हँसते हैं मुँह पर तिरी तलवार के
नीमजाँ[४] छोड़ना न ऐ क़ातिल
फ़ेल[५] है ये बड़ी नदामत[६] का
अदम[७] से शौक़ तुम्हारा कशाँ-कशाँ[८] ले आया
कहो तो शब यहीं रह जायें, घर है दूर हमारा
तमाम रात हुई कर गया किनारा चाँद
उतरिए बाम से तुम जीते और हारा चाँद
बाग़ में आये हो साथ इनके भी भर लो दो गाम[९]
कुबक-ओ-ताऊस[१०] का झगड़ा ही चुकाते न चलो
ताकुजा[११] सर को झुकाये रहूँ जल्द आ क़ातिल
देर से मुतंज़र-ए-नारा-ए-तकबीर[१२] हूँ मैं
ज़िक्र आ गया हो ख़ाक-ए-शहीदान-ए-नाज़[१३] का
सुन कर उसे गुलाल-सा तुमने उड़ा दिया
जुस्तजू में तेरी अंजुम[१४] की तरह ऐ माह-ए-हुस्न
ज़र्रा-ज़र्रा होके ख़ाक-ए-आशिक़ाँ गर्दिश में है
ख़ाक-ए-शहीद-ए-नाज़ से भी होली खेलिए
रंग इसमें है गुलाल का, बू है अबीर की

---

१. तेजी, काट २. ख्याति ३. बेरहम, निर्दयी ४. अधमरा ५. कार्य ६. लज्जा ७. परलोक ८. खिंचते-खिंचते ९. क़दम १०. गौरैया और मयूर ११. कहाँ तक १२. अल्लाहो-अकबर १३. प्रेमियों की धूल, खाक़ १४. सितारा

विछोह की पीड़ा और लज्जा

कौन-से दिन हाथ में आया मिरे दामान-ए-यार
कब ज़मीन-ओ-आस्माँ का फ़ासिला जाता रहा
किसी करवट से नींद आई न उस अबरू से सौदे में
न रक्खी मैंने जब तक खींचकर तलवार पहलू में
मिलता जो नहीं यार तो हम भी नहीं मिलते
ग़ैरत का अब अपनी भी तक़ाज़ा है तो ये है
अपनी सूरत देखने से एक दिन फ़ुर्सत नहीं
तोड़कर आईना इस ख़ुदबीं को हैराँ कीजिए
तुर्फ़ा सौदा है मिरा अपना गरीबाँ छोड़कर
फाड़ने उस गुलबदन का पैरहन जाता हूँ मैं
दिलाया याद शब उसने जो तेरी साक़-ए-सीमीं[१] को
रुलाया सुबह तक हँस-हँस मैंने शम्अ-ए-बालीं को
सर-ए-जानाँ रखा कब मैंने ज़ानू[२]-ए तसव्वुर में
शब-ए-हिज्र[३] आह, क्यों चोटी की नागन बन के डसती है

प्रसिद्ध प्रेमियों की ओर संकेत

मायल-ए-माशूक़ा, ख़ुसरो न हुआ ऐ कोहकन[४]
शेर के जूठे को खाना काम है रूबाह[५] का
फोड़ना तेशे[६] से अपना सर न था ऐ कोहकन
छीनना शीरीं को था परवेज़[७] का सर तोड़कर
बहस-ए-इल्म-ए-इश्क़ के क़ाबिल न था दोनों में एक
कोहकन बेमग़ज़ था मजनूँ जो था दीवाना था

इन तमाम शे'रों से 'आतिश' की कला पर रोशनी पड़ती है। पारम्परिक अभिव्यक्ति के बावुजूद भावों की नवीनता और उस बाँकपन का परिचय भी प्राप्त होता है, जिसका ज़िक्र हमने किया है।

---

१. चाँदी जैसी पिंडली २. घुटना ३. वियोग की रात ४. फ़रहाद ५. लोमड़ी ६. सबबल ७. नौशेरवाँ का पोता जो शीरीं का प्रेमी था

उपसंहार

भारत और पाकिस्तान में ऐतिहासिक और भाषागत अंतर्क्रियाओं के फलस्वरूप अस्तित्व में आने वाली बोली 'हिंदुस्तानी' का वह रूप जिसे उर्दू कहते हैं , उसने शायरी व गद्य की मंज़िलें दकन में तय कीं। अठारहवीं शताब्दी में दिल्ली में उर्दू ग़ज़ल का बोलबाला हुआ। जो पहले दिल्ली के रहस्यवादी शायरों के सौंदर्य प्रेम की मंज़िल से गुज़री फिर एक विशेष राजनीतिक परिस्थिति और समन्वित संस्कृति के प्रभावों को आत्मसात करती हुई 'मीर' और 'दर्द आदि शायरों के यहाँ आकर मानवीय पीड़ा, तसव्वुफ़ और धार्मिक सहिष्णुता के भावों से परिपूर्ण हुई। लखनऊ के अपेक्षाकृत उन्मुक्त और वैभवशाली परिवेश में यह विधा 'इंशा' की अठखेलियों और 'जुरअत' की खुली-खुली मुआमलाबंदी से गुज़र कर उन्नीसवीं शताब्दी में 'आतिश' और 'नासिख़' के हाथों में पहुँची। वहाँ इस भाषा में सुधार किये गये और इसका स्तर निर्धारित किया गया। भावों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति की तुलना में शब्दों की बंदिश को ज़्यादा महत्त्व दिया जाने लगा। इसमें सूक्ष्मता और गहराई की अपेक्षा स्थूलता और सहजता की अपेक्षा दुरूहता का समावेश होने लगा। 'आतिश' की रचनाओं से जो काव्य-दृष्टि उभरती है उसे संतुलित कहना मुश्किल है क्योंकि स्थूलता अर्थात् बाह्य सौंदर्य वर्णन, संयोग या मिलन प्रसंगों के पारम्परिक चित्र, शिल्प के प्रति अतिरिक्त सजगता और आलंकारिकता उनकी शायरी पर हावी है। यह अवश्य है कि उनकी प्रतिनिधि रचनाओं में पारम्परिक विषय – चाहे वे सूफ़ियाना हों या प्रेम से सम्बन्धित हों – मात्र पारम्परिक नहीं हैं। 'आतिश' में लखनऊ के वातावरण के विपरीत उदासीनता दिखाई देती है। दूसरी ओर वे सिर्फ़ आत्म-निरीक्षण में लिप्त नहीं रहते। उनका ध्यान घटना एवं स्थितियों की ओर भी आकृष्ट होता है। उनकी शायरी की इसी विशेषता को उनका बाँकपन कहा जाता है जो हर्षोल्लास और जीवन के प्रति आस्था से युक्त है। उनके इस बाँकपन में अतिरिक्त दृढ़ता और आत्मसजगता की जो विशेषता है, इसके कारण वे प्राचीन और आधुनिक उर्दू ग़ज़ल ही में नहीं बल्कि समूची उर्दू शायरी की परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं।

आतिश

मुहम्मद हुसैन आज़ाद

अब्दुस्सलाम नदवी

गुलाम हम्दानी 'मुसहफ़ी'

ख़लीलुर्रहमान आज़मी

मुहम्मद सादिक़

अब्दुल हलीम 'शरर'

पुस्तकें

: कुल्लियात, पहला और दूसरा भाग संपादक सैयद मुर्तज़ा हुसैन फ़ाज़िल लखनवी

: आब-ए-हयात

: शुअरा-उल-हिंद, पहला और दूसरा भाग

: रियाज़ुल फ़स्हा

: मुक़द्दमा-ए-कलाम-ए-आतिश

: ए हिस्ट्री ऑफ़ उर्दू लिटरेचर

: गुज़िश्ता लखनऊ